साहित्य, साधना और समाज

डॉ० भगीरथ मिश्र एम० ए०, पी-एच० डी०
लखनऊ विश्वविद्यालय
लेखक

प्रकाशक
अवध पब्लिशिंग हाउस
पानदरीबा :: लखनऊ

प्रथम संस्करण] १९५१ [मूल्य ४॥)

प्रकाशक
अवध पब्लिशिंग हाउस
पानदरीबा, लखनऊ

साढ़े चार रुपये

मुद्रक
नवज्योति प्रेस
पानदरीबा, लखनऊ

साहित्य, साधना और समाज

[प्रस्तावना]

समाज के प्रति जागरूक साधना का परिणाम प्राय सत्साहित्य होता है। परन्तु इससे भी अधिक तथ्य इस बात में है कि सत्साहित्य के सृजन के लिए समाज के प्रति जागरूकता और साधना, दोनो ही की आवश्यकता है। जो साहित्य समाज की नितान्त अवहेलना या उपेक्षा करके लिखा जाता है उसमे व्यापकता और स्थायित्व के गुण नहीं आ सकते। व्यक्तिगत एकातिक साधना उसे गभीर आत्मानुभूति से भर सकती है, परन्तु गभीर आत्मानुभूति की अवस्था तक आते-आते, व्यक्ति का सकीर्ण घेरा टूट जाता है और वह अनचाहे ही कभी कभी समष्टि-साधना का प्रतिनिधित्व करने लगता है। यह गंभीर आत्मानुभूति की दशा जितनी ही अधिक चलती है, उतना ही व्यक्ति, व्यापक समष्टि मे परिणत होता जाता है और सकीर्ण व्यक्ति तिरोहित होता जाता है। प्राचीन युगो के ऋषि-मुनियो का साधनामय जीवन और उपनिषदो, शास्त्रों, पुराणो आदि साहित्य के रूप में उसकी परिणति तथा तुलसी, गाधी, अरविन्द, वर्नडशा आदि के साधनामय कार्य इसके पुष्ट प्रमाण है।

सामाजिक और साहित्यिक दोनो ही प्रकार की सफलता के लिए साधना चाहिए। सामाजिक कार्यों की साधना, त्याग, परोपकार आदि गुणो की अपेक्षा रखती है और साहित्यिक साधना, निस्पृह संवेदनशीलता और भावात्मक तन्मयता की। साधना के अभाव में किये गये दोनो ही कार्य अधूरे और अचिरस्थायी रहते है। अत. जहां पर साहित्य, साधना और समाज तीनो ही की परिधियां मिल जाती है अथवा जब इन तीनो का केन्द्रबिन्दु एक हो जाता है वहाँ युग-युग तक अमर रहनेवाली विभूतियो और कृतियो का प्रादुर्भाव होता है।

सामाजिक दृष्टि और साधना का संबध वैज्ञानिक से भी रहता है, किन्तु

उसके परिणामो का उपयोग समाज सीधे रूप में न करके, टेढे स्थूल और वाह्य रूप में करता है। उदाहरणार्थ एक वैज्ञानिक ने अपनी साधना से अणुशक्ति की खोज की, तो समाज इससे प्राप्त प्रयोगो का उपयोग उस शक्ति से चलनेवाली कलो के उपयोग द्वारा करेगा और इस प्रकार भौतिक एव शारीरिक जीवन के सुख की वृद्धि होगी, परन्तु साहित्यकार की इस प्रकार की साधना का परिणाम, समाज स्वय अपने आप ही भोगता है और उससे भौतिक सुख के स्थान पर मानसिक तृप्ति और आध्यात्मिक आनद प्राप्त होता है, जो हमारे जीवन की पूर्णता के लिए अधिक आवश्यक है। साहित्य-द्वारा इस प्रकार के मानसिक और आध्यात्मिक विकास के बिना, मनुष्य सामुहिक रूप में भौतिक सुखो का उपयोग भी नहीं कर सकता। अत. साहित्यिक साधना का महत्व समाज के लिए अधिक और प्रतिदिन उपादेय है। विज्ञान जीवन की सुख-सामग्री देता है और साहित्य हमारे मगलमय शुभ संस्कार बनाता है जिससे हम एक साथ रहकर, उन सुखो का सामाजिक उपभोग कर सकते हैं। हमारे समाज में आज भी इसी प्रकार के उपयोग के लिए नियम, कानून बनाये जाते हे, फिर भी अपराध होते हैं उसका कारण साहित्य साधना और साहित्य-सेवन की कमी है। वे सस्कार, इस कमी के कारण नही बन पाते जिनके होने पर हम एक दूसरे का ध्यान रखकर अपने स्वाथो की सिद्धि करते हैं, अत साहित्यिक साधना के परिणामो का हमारे सामाजिक जीवन की सफलता में महत्वपूर्ण योग रहता है।

प्रस्तुत सग्रह में आये निबन्धो में इस दृष्टिकोण की ही प्रमुखता है। इसमें शुद्ध साहित्यिक लेख भी है। किन्तु वहाँ भी स्पष्ट अथवा व्यग्य रूप से साधना अथवा सामाजिकता के सकेत हैं उन्हें ही स्पष्ट करने के लिए ऊपर का वक्तव्य है। मेरा दृढ विश्वास है कि आज के युग में साधना के साथ-साथ सामाजिक दृष्टि की बड़ी आवश्यकता है। हमें वही साहित्य चाहिए जो साधना-प्रसूत और सामाजिक जागरूकता से सपन्न हो। वही हमारे युग का सत्साहित्य हो सकेगा। अतएव साहित्य, साधना और समाज का घनिष्ठ संबन्ध हमारे लिए वाछनीय है।

लखनऊ
वसत पचमी
२००७ वि०

भगीरथ मिश्र

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
सन्त कवियों के सामाजिक आदर्श	१
गोस्वामी तुलसीदास का समाजवाद	२६
हिन्दी काव्य में रहस्य-भावना	७३
हिन्दी काव्य में प्रगीतात्मकता और उसके विविध रूप .	९३
हिन्दी में गीतिकाव्य का विकास	१२३
कवि-कोटियां	१४०
काव्य में वन और फूल	१५३
कवि का सत्य	१६०
साहित्य में आदर्श और यथार्थ	१६५
अवधी की सामर्थ्य और समृद्धि	१७०
लोक-साहित्य में दाम्पत्य जीवन	१७८
साहित्यिक अभिरुचि	१८६
आज का कवि और कविता का भविष्य	१९४
सामाजिक साम्य और आध्यात्मिक चेतना	१९९

सन्त कवियों के सामाजिक आदर्श

अभी तक संत कवियो के सामाजिक पक्ष पर बहुत कम प्रकाश डाला गया है। प्राय: जब हम संत कवियो की वाणी का अवलोकन करते है, तो हमारी धारणा यही रहती है कि उनमें भक्ति या अध्यात्म-चर्चा है, हमारी प्रवृत्ति यही रहती है कि उसके भीतर लोक-जीवन-सम्बन्धी धारणायें और आदर्श ढूंढना व्यर्थ है। पर यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करें, तो हमें उनको आध्यात्मिक साधना और ईश्वर-भक्ति से सम्बन्धित उद्गारो में सामाजिक आदर्शों के संकेत मिलते है। क्यो ? इसका कारण है। अपने आस-पास के लोक-जीवन को अत्यन्त दूषित और असत्य पथ पर जाते देखकर उन महापुरुषो के मन में उससे विरक्ति का भाव जाग्रत हुआ और उसी भाव को लेकर उन्होंने उपदेश दिये। इसके साथ ही साथ लौकिक जीवन की क्षणभगुरता, पारस्परिक विषमता, वैमनस्य, विरोध आदि के कारण उन्होंने लोक-जीवन-सम्बन्धी बातो को छोड कर उस तत्व का सहारा ढूंढा जो चिरन्तन, अनन्त एवं सर्वव्यापी है। किन्तु, इस तत्व की प्राप्ति आदि के लिए जीवन का जो आदर्श रक्खा गया है, उसका हमारे शाश्वत्, सामाजिक जीवन में भी बहुत बडा महत्व है।

मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं मानसिक स्थिति के विचार से भी यह सत्य है कि वह उठता-उठता आकाश तक पहुँच सकता है और गिरता-गिरता पाताल भी जा सकता है। उसके भीतर उत्थान की असीम शक्ति है और पतन की भी सीमा नही है। मनुष्य के मन की शक्ति अपार है। इसीलिए प्राचीन ऋषियो ने मन के सम्बन्ध में यही प्रार्थना की है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं, तदुसुप्तस्य तथैव एति।
दूरं गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

अर्थात् असीम शक्तिवाला हमारा मन शिव सकल्प या कल्याणकारी सकल्प वाला हो। जब तक हमारा मन सत्कर्तव्यो की ओर प्रवृत्त नही होता, तब तक वह भक्त पतनाभिमुख ही रहेगा। अत इन भक्त कवियो तथा ऋषि-महात्माओं ने अपने मन का निरोध कर अपने लिए जो व्यक्तिगत आदर्श

बनाया है, वह सांकेतिक रूप से सामाजिक महत्व रखता है। साथ ही साथ उनकी जो उक्तियाँ समाज को लक्ष्य करके कही गई है उनमें तो समाज को स्पष्ट उपदेश है ही। भारतीय इतिहास में सन्तो का भक्ति-सम्बन्धी आन्दोलन आत्मपरिष्कार और समाजसुधार का आन्दोलन है। भक्ति या अध्यात्म के मुख्य तत्व को ग्रहण कर यदि मनुष्यमात्र को पावन करनेवाले, पारस्परिक विद्वेष-घृणा, ईर्ष्या-वैषम्य को घुला देनेवाले एक मानवीय प्रेम के प्रवाह में हम मग्न हो जायँ तो हमारा समाज आदर्श हो सकता है।

आजकल हम मानव प्रेम को जाग्रत करने के हेतु, मानव जाति की सुख-शाति की रक्षा के निमित्त विभिन्न भौतिकवादो की कल्पना कर रहे है। जिस साम्य-स्थापना की कल्पना हम अपने साम्य और समाजवादो में आज कर रहे है, उसी मानव-मात्र के साम्य-स्थापन-सम्बन्धी प्रयत्न के फल-स्वरूप हमें मध्ययुग में भक्ति और अध्यात्मवाद का यह प्रवाह दिखाई दे रहा है। यद्यपि यह बात सत्य है कि भक्ति के समस्त सम्प्रदायो और रूपो में हमें स्पष्टरूपेण इस सामाजिक साम्य की घोषणा नही मिलती, पर जो भी आदर्श है उसके मूल में यह साम्य है अवश्य। हिन्दी के निर्गुणोपासक सन्तो कबीर, नानक, दादू, रैदास, आदि ने स्पष्ट रीति से ही सामाजिक साम्य का भाव जगाया था जिसमें वर्णभेद, जातिभेद यहाँ तक कि धर्मभेद का भी कोई स्थान न था और ईश्वर की उपासना के सामान्य क्षेत्र में उतर कर सभी के पारस्परिक भेदभाव भुलाकर ही आगे बढने का रास्ता था। सगुणोपासको में भी गीता के आदर्श पर उत्कृष्ट भक्ति के अन्तर्गत अपना कर्तव्य करते हुए व्यर्थ के वर्ण वैषम्य और धर्मभेद भुलाने का, वरन् स्त्री-पुरुष के भी स्वाभाविक भेदभाव को भुलाकर उस ईश्वर को स्वामी के रूप में भजने का उल्लेख मिलता है। प्रसिद्ध है कि मीराबाई ने स्वय ही कहा था कि "इस ससार में कृष्ण को छोड़ कर पुरुष है ही कौन? सभी स्त्री ही तो है।" और भगवान् कृष्ण का भी गीता में उपदेश है कि "श्वनि चैव श्वपाकेच पडिता समदर्शिन" ऐसी दशा में भेदभाव को बढाना नही, वरन् घटाना ही इन भक्तो का भी उद्देश्य था। हाँ, कुछ सन्त अवश्य जब अपने आदर्श से उतर कर यथार्थ एव व्यवहारिक दृष्टिकोण को सामने रखते है, तब वर्ण आदि की सत्ता अपने समाज के उपयोगी और कल्याणकारी रूप में मानकर अपनी आदर्श धारणा प्रकट करते है और ऐसे कवियो में गोस्वामी तुलसीदास जी का प्रमुख स्थान है कि जिन्होंने समाज की रूढिवादिता और सामाजिक व्यवस्था की कटु आलोचना के बीच का मार्ग ग्रहण किया और सघर्षात्मक सिद्धान्तो एव विचार-धाराओ

के मध्य सामंजस्य की सुदृढ़ नौका निर्मित की। उनका दृष्टिकोण इस विचार से उस समाज के लिए अधिक यथार्थ और व्यावहारिक है।

इस दृष्टि से कबीर आदि संत कवियों और तुलसी के आदर्शों में थोड़ा अन्तर है। संत रहस्यवादी कवियों ने समाज सम्बन्धी कोई स्पष्ट कल्पना नहीं की और न इस प्रकार का प्रयत्न कृष्णभक्त कवियों में ही पाया जाता है। पर तुलसी ने हमारे सामने समाज का स्पष्ट और पूर्ण चित्र उपस्थित किया है। तुलसी का सामाजिक आदर्श* आज भी हमारे लिए उपादेय है और मुख्य-मुख्य तत्वों में वह निर्गुणोपासक संत कवियों की धारणाओं से भी भिन्न नहीं है। अत: हम कह सकते हैं कि संत कवियों ने जिसकी धारणा के संकेत मात्र उपस्थित किये, तुलसी ने उसका स्पष्ट और साकार रूप प्रस्तुत कर दिया है। जिस प्रकार निर्गुणोपासकों के निराकार ईश्वर की विभिन्न विशेषताओं को धारण करनेवाले सगुण और साकार ईश्वर की स्थापना गोस्वामी तुलसीदास जी ने की है, उसी प्रकार उनके समाज के आदर्शों के संकेतों को समाविष्ट करनेवाले समाज का भी स्पष्ट रूप उन्होंने अंकित किया है। संत कवियों ने मनुष्यमात्र के सामान्य धर्मों का ही संकेत किया है, पर तुलसी ने अपने युग के दृष्टिकोण से विशिष्ट धर्मों का विवरण भी दिया है। आजकल भी हमें सामान्य धर्मों को तो उनसे ग्रहण करना है, पर विशिष्ट धर्मों का निर्माण हम आज की परिस्थितियों के अनुकूल, विभिन्न समाजों का ध्यान रखकर कर सकते हैं।

समाज का निर्माण व्यक्तियों द्वारा होता है, अत: व्यक्तियों के आचरण, विचार, चिंतन, ध्यानसंबंधी बातें, सामाजिक आदर्श का ही निर्माण करती हैं। व्यक्तिगत आचरण अथवा उपदेशों द्वारा निर्गुणोपासक कवियों ने जिन सामाजिक आदर्शों का संकेत किया है, वे प्रमुखतया ये हैं —

(१) सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग

(२) अहिंसा

(३) त्याग, परोपकार दया और उदारता

(४) आत्मसंतोष

(५) काम-क्रोध-मद-लोभ का त्याग

(६) सतसंग

---

* तुलसी के सामाजिक आदर्श पर आगे के लेख में अलग विचार किया गया है।

(७) ईश्वर पर विश्वास
(८) अद्वैतभावना
(९) साम्य भाव (सब को समान समझना)
(१०) वर्ण और वर्गभेद-भाव का त्याग

सन्त कवियो ने अधिकांश इनका प्रयोग व्यक्तिगत उपदेशो के रूप में किया है, परन्तु इनका सामाजिक मूल्य यह है कि प्रत्येक सुसगठित, व्यवस्थित, शिष्ट एवं समुन्नत समाज में इन वातो का होना अनिवार्य है। इन्ही को यदि हम नागरिकता की दृष्टि से देखते है तो एक सच्चे नागरिक बनने के नियमो के अन्तर्गत इनमें से अधिकांश आ जाते है और जो नही आते और धर्म एव व्यक्तिगत साधना के रूप में देखे और समझे जाते है, उन पर भी विचार करने से यह निश्चित हो जाता है कि वास्तविक एवं चिरस्थायी सामाजिक साम्य-स्थापना के लिए उनका भी महत्व है। हम इनमें से एक-एक को लेकर सन्तो की वाणी से पुष्ट करके उनके सामाजिक महत्व पर विचार करेंगे।

सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग

किसी भी समाज की सुव्यवस्था और समुन्नति के लिए यह आवश्यक है कि वह सामुहिक रूप से और उसके सदस्य व्यक्तिगत रूप से सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग में तत्पर रहें। कोई भी समाज झूठे व्यवहार पर टिक नही सकता। हम घर और परिवार में देखते है कि किसी एक व्यक्ति के असत्य-व्यवहार और कथन से कितनी उलझन और कितना अनिष्ट हुआ करता है, क्योंकि समुद्र की अनन्त शृंखलाबद्ध लहरो के समान एक व्यक्ति के कार्यों का, दूसरे के कार्यों के प्रारभ, विस्तार और विकास पर प्रभाव पडा करता है। साधारण स्थूल सत्य को लेकर ही हम देखते है कि यदि हमारे समाचार-पत्रो में एक भी खबर असत्य छप जाये, तो हजारो और लाखो व्यक्तियो के न केवल बुद्धि और मन पर, वरन्, कार्यव्यवस्था पर कितना प्रभाव और आघात पडता है। इसीलिए प्रत्येक पत्र से सम्बन्धित सवाददाताओ का जाल और सम्वाददायिनी संस्थायें, शासन के नियमो एव प्रतिबन्धो का पालन करती हुई चला करती है। अनेक नियम और कानून सत्य के विस्तार और रक्षा के हेतु बना करते है और न्यायालयो में भी सत्य की जाँच और खोज का इतना प्रबन्ध किया जाता है कि न्यायाधिकारियो का निर्णय वास्तविक हो, सत्य हो। (यदि हम और सूक्ष्मता से देखें तो जितने भी शास्त्र और विज्ञान है वे भी सत्य-सिद्धान्तो और प्राकृतिक अथवा भौतिक सत्य-नियमो की खोज किया करते है, क्योकि उनके आधार पर न केवल हम असत्यता की उलझनो से

ही बचते है, वरन्, सत्य-नियमो को प्राप्त कर उनके आधार पर अन्य सत्य तथ्यो की खोज कर सकते है। यही दशा, मानव मस्तिष्क और अन्तर्वृत्तियो के सबंध में भी है जिनपर मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र कार्य करते है। तो वास्तव में मनुष्यजीवन इसी बात पर टिक सकता है कि वह सत्य का ग्रहण कर असत्य का त्याग करता रहे। यदि एक व्यक्ति भी इसके विपरीत करता है तो वह समाज में उलझन पैदा करता है जैसे कि एक धोखा देनेवाला असत्य सिद्धान्त, विज्ञान या शास्त्र के विकास में और एक झूठा व्यक्ति या झूठा कथन किसी अभियोग की जाँच में ।

मनुष्य समाज का सामुहिक प्रयत्न यह रहता है कि सत्य की वास्तविक खोज करे और जो तथ्य मिले उसका समाज भी उपयोग करे। आयुर्वेद या चिकित्साशास्त्र में जो औषधि खोजी जाती है उसके प्रयोग से समाज का कितना कल्याण होता है और सभी विश्वास के साथ उसका व्यवहार करते है, किन्तु झूठे विज्ञापन के सहारे जब अवास्तविक वस्तु का प्रचार हो जाता है, तब कितने व्यक्तियो को उसका दुष्परिणाम भुगतना पड़ता है। यही बात हमारे सामाजिक आचरण के संबन्ध मे भी सत्य है। मनुष्यसमाज धीरे-धीरे इतना विशाल और जटिल होता जा रहा है कि इसका कल्याण सत्य व्यवहार द्वारा ही हो सकता है। एक असत्य के कारण जितनी गुत्थियाँ पड़ती जाती है उनको सुलझाने में न जाने कितने अन्य प्रभावित होते है। आज के समाज में मनुष्य को उन्हे सुलझाने का अवकाश नही। अतः जो असत्य का व्यवहार या प्रचार करते है वे समाज के साथ विश्वासघात करते है, वे समाज का अहित करते है, उसकी उलझनो को बढ़ाते है। इसीलिए समाजो मे सत्य के साथ बलात्कार करनेवालो के लिए दंड-विधान है। किन्तु राजकीय दंड-विधान भय द्वारा सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग की प्रेरणा देता है। यह विवशता है। हम बाध्य होकर ऐसा करते है, समझकर स्वभाव या प्रवृत्तिवश नही। अत इन सन्तो और भक्तो ने सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग का उपदेश दिया है। यदि व्यक्ति सत्य-व्यवहार का स्वभाव बना लेता है, तो वह भयवश वैसा नही करता और जहाँ दड का भय न देखा वहाँ असत्य व्यवहार करने का प्रलोभन उसे विवश नही करता है, वरन्, सच्चे व्यवहार की उसकी आदत हो जाती है और वह असत्य कार्य नही करता, क्योकि वह समझता है कि वह पाप है, सामाजिक अहित है।

इसलिए सन्तो ने सत्य के व्यवहार की शिक्षा बराबर दी है। कबीर ने लिखा है,—

"साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।
जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप ॥

तुलसी ने सत्य और असत्य के ग्रहण-द्वारा ही सज्जन-दुर्जन की परख निश्चित की है । सज्जन का स्वाभाव ही सत्य को ग्रहण करने का होता है और दुर्जन का असत्य का ।

मिथ्या माहुर सज्जनहिं, खलहिं गरल सम साँच ।
तुलसी छुवत पराय ज्यो पारद पावक आँच ॥

अत यह सुनिश्चित है कि इन भक्त कवियो का मुख्य उद्देश्य हमारे सामाजिक जीवन में सत्य सबधी चेतना जगाना था और अपने इस कार्य में वे कम सफल नही हुए है । सत्य की चेतना जाग्रत करने का प्रयत्न हमें दो रूपो में देखने को मिलता है —(१) मन-वचन-कर्म की एकता में और (२) पाखड और आडम्बर के विरोध में ।

(१) मन-वचन-कर्म की सत्यता

वचन और कर्म की एकता ही कथनी और करनी की एकता है । अपने को सत्य व्यवहार का प्रमाण मन-वचन-कर्म की एकता से मिलता है । जो मन में विचार या निश्चय है वही वचनो-द्वारा कहना और वही कार्यों-द्वारा करना यह सच्चे व्यक्ति का प्रमाण है । प्राय किसी भी आदर्श या सिद्धान्त को दूसरो को समझाना तो बडा सरल होता है, पर स्वयं वैसा आचरण करना नितान्त कठिन जान पडता है । दुष्टो का तो स्वभाव ही यही होता है कि दूसरो को तो सत्कर्तव्य करने का उपदेश देंगे, पर स्वयं कोई सत्कर्तव्य नही करेंगे । संसार के ऐसे ही लोगो के लिए गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है—

पर उपदेश कुशल बहुतेरे ।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥

इसके साथ ही साथ बहुतेरे ऐसे भी होते हैं कि किसी महापुरुष का वाक्य ले लिया और उसे समय-असमय अपने कथनो के बीच रखने में ही बडा सतोष प्राप्त करते है । पर यथार्थ में दूसरे को उपदेश देने का अधिकार उसी को है जिसने या तो अपने अनुभव से कोई बात निकाली हो अथवा जो जिस नियम का उपदेश देता है उसका आचरण कर रहा हो । ऐसे लोगो के लिए जिनका अपना निजी अनुभव या आरचण नही, फिर भी दसरो को उपदेश देते है कबीर ने कहा है —

करनी बिन कथनी कथे, अज्ञानी दिन रात ।
कुकूर ज्यों भूँकत फिरै, सुनी सुनाई बात ॥

ऐसे व्यक्तियों से समाज को कोई लाभ नहीं होता उलटे बुरा प्रभाव पड़ता है। कहनेवाले तो बहुतेरे हो जाते हैं, पर आचरण करनेवाले ढूँढने से भी नहीं मिलते। जिनके मन में कुछ है, वचन में कुछ दूसरा और आचरण में उससे बिलकुल विपरीत है, उनपर कोई कैसे विश्वास कर सकता है? ऐसे ही व्यक्तियों के आचरण से समाज में उलझनें और समस्याएँ बनती हैं और समाज की जो शक्ति उसके अभ्युत्थान और विकास में व्यय होनी चाहिए, ऐसी उलझनों के मिटाने में ही लगी रहती है। अत: मन-वचन-कर्म की सरलता समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए अभिप्रेत है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने समाज के कपटी और सच्चे दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों के लिए साफ कहा है। कपटी व्यक्तियों के सम्बन्ध में वे कहते हैं,—

हृदय कपट वर वेष धरि, वचन कहहिं गढ़ि छोलि।
अब के लोग मयूर ज्यों, क्यों मिलिये मन खोलि॥

पर सज्जन का भाव भीतर-बाहर एक है और वह सदा ही सरल, मधुर और उदार है —

हँसनि मिलनि बोलनि मधुर, कटु करतब मन माँहि।
छुवत जो सकुचै, सुमित सो, तुलसी तिनकी छाँह॥

इस प्रकार जिनकी कथनी और करनी एक है, जो करते हैं वही कहते हैं और जो कहते हैं उसे अवश्य करते हैं, वे समाज के लिए उज्ज्वल रत्न हैं। वे अनुकरणीय हैं।

दादू ने भी कथनी और करनी की एकता पर जोर देते हुए कहा है कि संसार में विश्वसनीय वही व्यक्ति है जिनकी कथनी-करनी एक है,—

दादू—दादू कथनी और कुछ, करणी करै कुछ और।
तिन थैं मेरा जिय डरै, जिनके ठीक न ठौर॥

सामाजिक उत्थान के लिए वचन, मन और कर्म की सचाई आवश्यक है। अत इसके विपरीत भाव और आचरण का संतों ने विरोध किया है।

(२) पाखंड और आडम्बर का विरोध

सरल और सच्चा जीवन व्यतीत करनेवाले संतों और भक्तों ने सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग के विपरीत जो आचरण देखा है उसका बराबर विरोध किया है। अपने स्वार्थ, लोभ या लालच के वश में पड़ कर, तथा अपने सामने सत्य के प्रति अजागरूक, अंध-विश्वासी जन-समुदाय को अनेक प्रकार से पाखंड और आडम्बरों से भ्रम में डालना

और व्यर्थ के आडम्बरों को सत्कर्तव्य के रूप में ग्रहण करने का उपदेश देना समाज का बहुत बड़ा अहित करना है। ये पाखड और आडम्बर हमारे धर्म का रूप तक पकडे है और इनसे छुटकारा पाना आज भी वैसा ही कठिन है जैसा कि पहले था। पर, यदि सत्य के ग्रहण करने के प्रति जनता प्रवृत्त रहती है, तो इन पाखडों और आडम्बरो की जड़ें नही जम सकती है। सत्य के प्रति इतनी अधिक सामाजिक चेतना चाहिए कि जिसके प्रकाश-प्रवाह में असत्य के विकार की आती हुई पर्तें बराबर बह-धुलकर साफ हो जायें और एक के बाद दूसरी गहरी तहें न जमने पावें। इसीलिए सत्य को ग्रहण करना समाज के प्रत्येक व्यक्ति का प्रथम कर्तव्य है। पर समाज जिस बीच में किंचिन्मात्र भी असजग हुआ कि इस प्रकार की रूढियाँ और आडम्बर घर कर लेते है। अत यह भी सत्य के प्रचार और विकास का ही एक पक्ष है कि समाज में प्रचलित पाखड और आडम्बरो को दूर किया जाय।

असत्य पर आधारित रूढियो, पाखडो और आडबरो से प्रथम तो सामाजिक चेतना कुंठित होती है और भीरुता आती है, दूसरे आत्मविश्वास का भाव घटता है और तीसरे पारस्परिक भेद-भाव बढता है। यदि समाज के अतर्गत इस प्रकार के आडबर आ गये हो, तो उनको दूर करना पहला काम है, क्योकि उनके दूर किये बिना विभिन्न वर्गो और सम्प्रदायो का भेद-भाव नही मिट सकता है। जब कभी विभिन्न वर्ग या समुदाय बनते है तो उसका प्रमुख कारण सत्य की अवहेलना ही हुआ करती है। आज-कल भी विभिन्न दलो और पार्टियो के सबन्ध में कहा जा सकता है और पूर्वकालीन वर्गो और सम्प्रदायो के सघर्ष के मूल में भी यही असत्य व्यवहार था। इसी कारण से ऐसे आडम्बरो और पाखडो का खडन सत कवियो ने स्थान-स्थान पर किया है। कबीर तो आडम्बरो के विरोधी प्रसिद्ध ही है, तुलसी, दादू, नानक, दरिया, सुन्दर, आदि ने भी बराबर पाखंड का खंडन किया है। कबीर की पाखड-खडन सम्बन्धी-उक्तियाँ तो इतनी चुटीली है कि उनका तीव्र प्रभाव पडता है। कबीर ने अपने समय में असत्य को छिपानेवाले पाखडो को जिन रूपो में देखा वे है, वर्ण और धर्म-भेद, वेषभूषा, मूर्तिपूजा का ढोग, आन्तरिक शुद्धि के बिना तीर्थ-व्रत आदि का आडम्बर आदि।

सतो ने आन्तरिक शुद्धि और सचाई पर ही विशेष जोर दिया है। वेश-भूषा से जो साधू है, पर भीतरी शुद्धि और सचाई उसमें नही वह व्यक्ति मानो समाज के कपटाचरण का प्रतीक है। बिना कर्म के मालामात्र धारण कर लेने से कोई साधू नहीं हो जाता। कबीर ने कहा है —

साधू भया तो क्या भया माला पहिरी चार।
बाहर भेस बनाइया भीतर भरी भँगार॥

इसी प्रकार आडम्बर का भी उन्होंने तीव्र विरोध किया है —

मूड मुड़ाये हरि मिलै सब कोई लेय मुड़ाय।
बार बार के मूँड़ते भेड़ न बैकुंठ जाय॥
साँई से साँचे रहो, साँई साँच सुहाय।
भावै लंबे केस रख, भावै घुरड़ि मुड़ाय॥

शारीरिक कष्ट और जप-तप भी बेकार हैं यदि उनसे मन परिष्कृत नहीं होता। शरीर की साधना, बिना मन को वश में किये नहीं हो सकती। लोग व्रत-उपवास करते हैं, पर क्रोध, लोभ, ईर्ष्या-द्वेष आदि के भाव दूर नहीं होते, तो ऐसे व्रतों से कोई लाभ नहीं। कबीर ने लिखा है कि यह साँप को न मार कर उसकी बाँबी पीटना है, :—

बाँबी कूटे बावरे, साँप न मारा जाय।
मूरख बाँबी ना डसै, साँप सबन को खाय॥

नानक ने भी आन्तरिक शुद्धि के बिना, व्रत, नियम, तीर्थ आदि को व्यर्थ बताया है —

वरतु नेम तीरथ भ्रमे, बहुतेरा बोललि कूड़।
अतरि तीरथु नानका, सोधन नाही मूड़॥

धर्म और समाज दोनों में भेदभाव डालनेवाली तथा अयथार्थ और दिखावे की बातों का संत कवियों ने तीव्र विरोध किया है। वे माला लेकर उस जाप का विरोध करते हैं, जिसमें कि मन इधर-उधर फिरता है और उस नमाज की भी निन्दा करते हैं जो हृदय के कपट-भाव और जीव-हिंसा और हत्या को दूर नहीं कर सकती है। ईश्वर को मन्दिर, मस्जिद या मूर्ति में ही केन्द्रित कर केवल वहीं जाने पर धर्म-भाव को मन में लाना और अन्य स्थानों पर अत्याचार और पाप करना, सत्य-व्यवहार से दूर है। यथार्थ में ये धर्माडम्बर हमें झूठा मार्ग बताते हैं। दादू ने कहा है —

यह मसीत, यहु देहुरा, सतगुर दिया दिखाइ।
भीतर सेवा बन्दगी, बाहरि काहे जाइ॥

अतः आन्तरिक चेतना और विकास का ही महत्व इन संत कवियों की दृष्टि में है।

इसी प्रकार वे हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र आदि का भेद भी बनावटी मानते हैं और यह आडम्बर की पराकाष्ठा है। जब तक शरीर में प्राण है

तब तक कबीर कहते हैं कि चाहे उसे हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष चाहे जो कह लो, लेकिन शरीर के नष्ट होने पर सब मिट्टी है।

माटी के घर साज बनाया, नादे विन्दु समाना।
घट विनसे क्या नाम धरहुगे, अहमक खोज भुलाना॥
एकै हाड़ त्वचा मल मूत्रा, एक रुधिर एक मुद्रा।
एक बिंदु ते सृष्टि रच्यो है, को ब्राह्मण को सूद्रा॥
रज गुण ब्रह्म, तमो गुण संकर, सतो गुणी हरि सोई।
कहै कबीर राम रमि रहिया, हिन्दू तुरक न कोई॥

इसी प्रकार अन्य सन्तो ने भी कहा है:—

ना खुदा मसीते है भिदा, ना खुदा खाना काबे।
ना खुदा कुरान कितेबाँ, ना खुदा नमाजे॥
ना खुदा मैं तीरथ दिट्टा, ऐवें पंडे झागे।
बुल्ला शाह जद मुरशिद मिल गया टूटे सब्ब तगादे॥

—बुल्लेशाह, पृ० १५२ संत बाणी संग्रह

सभी प्राणीमात्र, पंच तत्वो के सम्मिश्रण से बने है। उत्पत्ति, जीवन और मरण की प्रक्रिया भी सभी मानव-मात्र की एक है, तब इस प्रकार से मनुष्य-मनुष्य का भेद करना और एक दूसरे के बीच आडम्बर, पाखंड और कृत्रिमता की दीवालें खडी करना इन संतो को असह्य था। वे समस्त मानव जाति को एक करके देखते थे और समाज के लिए सच्चे नियमो के पालन करने का उपदेश देते थे। समाज के लिए उनका पहला उपदेश था असत्य का त्याग और सत्य का ग्रहण।

सत्य के ग्रहण के साथ-साथ ही निर्गुणी सन्तो ने अनेक क्रिया-कलापों से जटिल साधना का विरोध करके स्वाभाविक सच्चे जीवन द्वारा प्राप्त सहजानुभूति और सहजानन्द की अवस्था को बडा महत्व दिया है। इसमें समस्त धार्मिक जीवन की रूढियो को अपदस्थ कर अथवा उन्हें पार कर सच्चे जीवन की आत्मसन्तोषपूर्ण उस अवस्था का वर्णन है जो इन साधको को अलौकिक आनन्द का द्वार खोल सकी थी। कबीर ने इस अवस्था को 'सहज समाधि' की अवस्था कहा है और बडी सीधी-सादी शैली और सरल शब्दो में उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—"सच्चे जीवन से प्राप्त सहज समाधि अच्छी है। जिसमें जहाँ भी मैं जाता हूँ वही मानो परिक्रमा है और जो कुछ भी मैं करता हूँ, वही सेवा है, जब सोता हूँ तब दंडवत करता हूँ और कोई भाव नहीं रह जाता। इसमे घर और वन एक से है, कहीं भी रहूँ यह अवस्था सुख दायिनी है।"

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन तें उपजी,
दिन दिन अधिक चली।
जहँ जहँ डोलों सो परिकरमा,
जो कछु करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत,
पूजों और न देवा।
कहौं सो नाम, सुनौं सो सुमिरन,
खाँउँ पियौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं,
भाव न मानौं दूजा।

प्रसिद्ध दादूपन्थी महात्मा सुन्दरदास जी ने भी इस प्रकार के सहज भाव को ससार के लिए बड़ा ही कल्याणकर कहा है जिसके बिना समस्त कार्य संशययुक्त है। उन्ही के शब्द है:—

जोई आरंभ कीजिये, सोई संशयकाल।
सुन्दर सहज सुभाव गहि, मेटो भव जजाल॥
ना मैं मेघाडम्बर भीजों।
शीतकाल जल में नहि छीजों॥
ना मैं सिर पर करवत मारों।
ना मैं नींद भूख तिस मारों॥
देह कष्ट मैं करौं न कोई।
सहजैं सहजैं होइ सो होई॥
न मैं गलौं हिवालै माही।
स्वर्ग लोक को बंछौं नाहीं॥
ना मैं लटकि अधोमुख झूलौं।
धूम पान करि मैं ना भूलों॥
ना मैं वन वसि करौं तपस्या।
कन्द मूल की करौं न हिंस्या॥
सतगुर कहि समुझाइया, निज मत वारवार।
सुन्दर काहे कहा करै, पाया सहज विचार॥

(सुन्दर ग्रन्थावली, ख० १, पृ० ३०५)

कबीर ने सच्चे जीवन का आदर्श एक पक्ति में व्यक्त किया है:—

साँई सेती साँच चलु, औरां सूं सुधि भाव ।

जो सत इस प्रकार, ससार को छोड कर वन में जाकर तपस्या करना अपना लक्ष्य नही रखते और न अनेक प्रकार की जटिल साधना-पद्धति ही अपनाते हैं, वे समाज में रह कर स्वाभाविक जीवन के सहज आनन्द का ही मार्ग हमारे लिए सुगम करते है । समाज में रह कर स्वाभाविक, सच्चा और आनन्द-पूर्ण जीवन ही उनका ध्येय है और उसके लिए पहला साधन है—*सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग ।*

अहिंसा

स्वाभाविक, सच्चे और आनन्दपूर्ण सामाजिक जीवन के लिए दूसरा साधन *अहिंसा* का है । कहने की आवश्यकता नही कि प्रात स्मरणीय महात्मा गाधी जी ने जो सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त को ग्रहण किया था और उसकी सामाजिक उपयोगिता हमारे सामने स्पष्ट की थी, उस सिद्धान्त का सग्रह उन्होने इन्ही सतो के जीवन और वाणी से ही किया था । जिस सच्चे जीवन को व्यतीत करने का उपदेश इन सतो ने दिया है और जो सत्य को ग्रहण कर असत्य के त्याग में समर्थ हो सकता है उसके लिए अहिसा की वड़ी आवश्यकता है । अहिंसा, परोपकार की निषेधात्मक पृष्ठभूमि है । परोपकार के अंतर्गत समाज का हित करना होता है और अहिंसा के अन्तर्गत अहित न करना । ससार में किसी का अहित न करना सतो के जीवन का प्रमुख लक्षण है, वरन् वे अहित न करते हुए ससार का हित ही करते है ऐसा उनका स्वभाव है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

तुलसी संत सुअंबतरु, फूलि फरें पर हेत ।
इतते वे पाहन हनत, उतते वे फल देत ।।

मानवजाति को सभ्यता और सस्कृति के विकास के साथ, प्रकृति और भौतिक तत्वो की खोज के उपरान्त हिंस्र जन्तुओ तथा प्रकृति के क्रोध आदि से त्राण, सुरक्षा और निर्भयता का वरदान मिला है । वायुयान, मशीन, रेल आदि के सहारे भयकर से भयंकर स्थान भी सुगम हो गये है, मनुष्य को अन्य प्राणियो से अव भय नही, किन्तु अपने ही से भय है । एक वर्ग, दूसरे वर्ग को, एक जाति, दूसरी जाति को, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को खा डालने की योजनायें वना रहा है । और इस प्रकार से विश्व की और प्रत्येक देश के मानव-समाज की शांति-भग हो रही है । किन्तु मनुष्य का मनुष्य के प्रति व्यवहार, भय और हिंसा का नही, वरन् , प्रेम और अहिंसा का होना चाहिए । सन्तो ने इसी अहिंसा का उपदेश समस्त समाज को दिया था । यदि हम अहिंसा के व्यवहार

को अपना लेते है, तो हमारे समाज का न केवल भय दूर हो जाता है, वरन् संघर्ष और अशांति की भी समाप्ति हो जाती है। अहिंसा का यथार्थ भाव, तब आता है जब हम किसी को भी मन, वचन और कर्म से बुराई न करें। जब हम किसी की भी बुराई नहीं करते है, तो आन्तरिक निर्भीकता की दशा प्राप्त होती है और मानव समाज पूर्ण निर्भय होकर सुख शान्तिपूर्वक रह सकता है।

यहां पर एक और आवश्यक बात समझने की यह है कि अहिंसा का भाव बिना आध्यात्मिक चेतना के चिरस्थायी और गहरे रूप में नहीं जम सकता। अत इन संत कवियों का भाव कि ईश्वर घट-घट व्यापी है, इस प्रकार के अहिंसापूर्ण व्यवहार के लिए बड़ा ही व्यापक और उर्वर क्षेत्र तैयार करता है। जब हमारे भीतर यह भाव घर कर लेता है कि प्रत्येक के भीतर उस परमात्मा का वास है, तो हम किसी की भी हानि करना अपनी हानि समझते है और किसी के प्रति दुर्भाव, उस परमात्मा का अपमान करना। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी भाव से पूर्ण होकर कहा था—

सीय राममय सब जग जानी।
करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त नामदेव ने भी इसी तत्व को अपने एक पद में इस प्रकार व्यक्त किया है.—

एक अनेक वियापक पूरक,
जित देखौं तित सोई।
सब गोविंद है सब गोविंद है,
गोविन्द बिन नहि कोई॥
कहत नामदेव हरि की रचना,
देखो हृदय विचारी।
घट-घट अन्तर सर्व निरतर,
केवल एक मुरारी॥

जब घट-घट-व्यापी, इस तत्व का आभास मिल जाता है, तब यथार्थ अहिंसा का भाव उत्पन्न होता है। इस तत्व का आभास जिसे मिल जाता है, वह एक कटु बात भी किसी के लिए नहीं कह सकता। जब सभी में ईश्वर है तब हम कड़ुवी बात किस के लिए कहते है। इसी भाव से तिलमिलाकर कबीर ने कहा था—

घट घट में वह साईं रमता,
कटुक वचन मत बोल रे॥

दादू भी इसी भाव से भरे हुए कहते है कि ससार में वही ईश्वर सभी में व्याप्त है अतः किसका बुरा करें और किससे वैरभाव मानें। अत अहिसा और वैरभाव की हीनता ही सन्तो का लक्षण है। दादू के शब्द है —

आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै बिकार।
निरवैरी सब जीव सो, दादू यहु मतिसार॥
किस सो बैरी ह्वै रह्या, दूजा कोई नाहि।
जिसके अंग थै ऊपज्या, सोई है सब माहि॥

सन्तो और भक्तो के इस प्रकार के अहिसा भाव में समाज का यथार्थ कल्याण छिपा है। यदि हम सच्चे अहिंसक हो सकें, तो मानव-समाज का भय दूर हो सकेगा। और जो शक्ति दूसरे को हानि पहुँचा कर व्यक्तिगत स्वार्थ-साधना में लगी है वह सामुहिक रूप से सामाजिक कल्याण कर सकने में प्रवृत्त होगी।

त्याग, परोपकार, दया और उदारता

सन्तो और भक्तो के जीवन में इन चारो गुणो का समावेश प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। त्याग और उदारता की भावना ही दया की पृष्ठभूमि बनाती है और जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति परोपकार के काम कर सकता है। हमारे सामाजिक जीवन में आजकल भी कितनी ही परोपकार और निस्वार्थ सेवा करन वाली सस्थायें है जिनका काम सामाजिक साम्य की स्थापना करना है। समाज में जो विषमता है–शारीरिक, आर्थिक अथवा बौद्धिक–उसको दूर करने का कार्य ही हमारे अस्पताल, दान-सस्थायें और पाठशालायें विद्यालय आदि कर रहे है। किन्तु इन सस्थाओ के कार्यो में हमें व्यक्तिगत सतोष नही होता। हम दया का भाव तभी व्यक्त करते है जब दयनीय व्यक्ति हमारे सामने होता है। अत इस कार्य की एक आदर्श अवस्था ऐसी भी हो सकती है कि जब दया के भाव की आवश्यकता ही न रह जाय। यदि किसी समाज में समस्त व्यक्ति सज्जन और सत्कर्तव्यशील हो, तो उसमें कोई भी समस्यायें नहीं रह सकती। उस समाज के निर्माण के दो ढग है एक तो सब को आर्थिक एकता और भौतिक साधनो की समानता प्रदान की जाय और दूसरे हमारे भाव आर्थिक विषमता से प्रभावित न होकर एकता और समता की ओर अग्रसर होते रहें। सन्तों और भक्तो का आदर्श दूसरे प्रकार का है और हम आजकल प्रथम प्रकार के साधन का अवलम्बन कर रहे है। कहने की आवश्यकता नही कि दोनो ही की आवश्यकता रहती है। शासन की ओर से कितनी ही साम्य की परिस्थिति बनाने का प्रयत्न किया जाय, यदि मनुष्य को मनुष्य की समानता का स्वय ध्यान नही

तो छल, कपट से, चोरी और छुप छिप कर विषमता के बीज बराबर उगते रहेंगे। अतः आत्मत्याग और सतोष की भावना आवश्यक है। त्याग और सतोष, आर्थिक साम्य के साथ-साथ परमोपयोगी है।

किन्तु, सन्तो और भक्तो ने इस आर्थिक साम्य की कोई अपेक्षा किये बिना ही राजकीय या शासन की ओर से कोई समत्व का प्रयत्न न होने पर भी परोपकार, दया और उदारता के द्वारा, मानव समाज में यथार्थ साम्य स्थापना करने का प्रयत्न किया है। परोपकार का भाव, समाज में एक दूसरे के स्वार्थ को ध्यान में रखने के भाव का आगे और विकास है। यदि हम अपने लिए प्रयत्न न करके दूसरे के सुख, समृद्धि और आनन्द का प्रयत्न करें और दूसरा हमारे लिए करे, यदि हमारा समाज इतना सात्विक त्यागी, समझदार और उदार हो, तो जीवन का जो आनन्द हमें प्राप्त होगा, वह असाधारण होगा। अपने-अपने परिवारो में भी हम देखते है कि जिनमें सभी समझदार व्यक्ति एक दूसरे का ध्यान रख कर, श्रद्धा विश्वास और प्रेम के साथ अपना व्यवहार करते है, बड़े सुखी है और दूसरे परिवार जिनमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी खींचतान मचाता रहता है, बराबर दुख और सकट में फँसते जाते है। जो जिसके लिए अनिवार्य है वह उसे पहले मिले, जो जिसके लिए आवश्यक है, उसकी इच्छा उसके बाद है।

राज्य के सम्बन्ध में भी हमारा आदर्श दूसरे प्रकार का रहा है। जिस राज्य के लिए हमारे देश और विदेश में भाई-भाई, चचा-भतीजे, पिता-पुत्र तक में सघर्ष और एक दूसरे की हत्याएँ तक हुई। उसी राज्य के सम्बन्ध में राम के परिवार का आदर्श कितना सराहनीय है। भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम और भरत दोनो का ही, राज्य जैसी बड़ी और महत्वपूर्ण वस्तु के लिए भी पूर्ण त्यागभाव स्पष्ट रूप से चित्रित किया है। दोनो ही उसे ठुकराते है। जब राज्य के लिए यह भाव हो तब साधारण वस्तुओ की बात ही क्या है? इस प्रकार के त्याग का परिणाम होता है परस्पर प्रगाढ प्रेम, और जिस समाज में इस प्रगाढ प्रेम की धारा बहती है वह पूर्ण आनन्द में मग्न रहता है। यह वह दशा है जिसमें आर्थिक और भौतिक क्षीणता या साधनहीनता भी कोई प्रभाव नही डालती। वे एक रोटी के ही टुकडे कर आपस में बाँट कर खा लेंगे, पर झगडा न करेंगे। सन्तो का आदर्श तो इससे भी ऊँचा रहा है, दूसरे को खिला कर स्वय खाना। भारतीय आतिथ्य कौन नही जानता? इस आतिथ्य की जडो को जमानेवाला, सन्तो और भक्तो द्वारा प्रवाहित त्याग और परोपकार का भाव ही था। परोपकार और उदारता का भाव समाज के लिए कल्याणकारी समझकर ही कबीर ने कहा था—

"हाड़ बड़ा हरिभजन कर, द्रव्य बड़ा कछु देय ।
अकिल बड़ी उपकार कर, जीवन का फल येह ।।

जीवन की सफलता और कृत-कृत्यता उपकार में ही है । भक्तो की धारणा है कि उपकार और सद्-व्यवहार, जो भी मनुष्य करता है और दूसरो के लिए किया गया समझता है, वह यथार्थ में उसके ही अपने लाभ का होता है । एक बडा सुन्दर उदाहरण है—

ऋतु बसन्त जाचक भया, हरषि दिया द्रुम पात ।
ताते नव पल्लव भया, दिया दूर नहि जात ।।

जिनके हृदय में दूसरो के प्रति यथार्थ करुणा और समवेदना का भाव जाग्रत नही हुआ है, उनके लिए वह भाव वड़ा हितकारी है, न परार्थ की भावना से सही तो स्वार्थ की भावना से ही सही, परोपकार तो होगा, समाज में दूसरे व्यक्ति के कल्याण का ध्यान तो आया । किन्तु, यथार्थ में परोपकार का भाव स्वार्थ को नही देखता । भक्तो का आदर्श यही है कि कोई चाहे कितना ही हमारा अनिष्ट करे, हमें उसका अनिष्ट नही करना चाहिए । अनिष्ट करना, सकीर्ण दृष्टि से ही सभव है, क्योकि जो जैसा करेगा, उसे वैसा ही मिलेगा इसलिए वे अपकार करनेवाले के लिए भी उपकार करने का उपदेश देते है । यह भाव गाधी-वाद के कितने समीप है । कबीर का कथन है ।

जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बुवै तू फूल ।
तोकों फूल के फूल है; वाको है तिरसूल ।।

इस प्रकार की भावना का प्रभाव, अन्ततोगत्वा यही होता है कि सभी द्रवित हो जाते है और समाज में किसी का भी अनिष्ट या अपकार न करने की चेतना जाग्रत हो जाती है ।

आत्मसन्तोष

यह परोपकार का भाव तभी आवेगा, जब किसी भी कार्य के सबध में, विशेष रूप से फल के सम्बन्ध में, ईश्वरार्पण बुद्धि हो, जिसका उपदेश गीता में इन शब्दो में हुआ है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि ।।

यह समर्पण बुद्धि, त्याग से उत्पन्न बुद्धि है । इससे युक्त भक्त कवियो में आत्मत्याग-सम्बन्धी वडे सुन्दर भाव व्यक्त हुए है । कहते है:—

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर ।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागेगा मोर ॥

अहंभाव के त्याग और त्यागवृत्ति का इस प्रकार का भाव तभी आता है जब यथार्थ ही आत्मसन्तोष जागृत होता है । अतः सामाजिक व्यवहार के लिए समर्थ और योग्य व्यक्ति में आत्मसन्तोष का भाव बड़ा ही आवश्यक है । आत्मसन्तोष में लोभ-लालच आदि का भाव नहीं और न आगे जोड़कर रखने की प्रवृत्ति है। भक्तों का आत्मसंतोष संसार के प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श चाहे न हो सके पर समाजसुधारक नेताओं के लिए और साधु-सन्तों के लिए तो यह आदर्श है—

उदर समाता अन्न ले, तनहिं समाता चीर ।
अधिकहिं संग्रह ना करै, ताका नाम फकीर ॥

सन्तोष धन के प्राप्त कर लेने पर फिर अन्य धन उसके सामने तुच्छ हो जाते हैं । और यथार्थ में जीवन उन्हीं का सुखी है जिनको यह सन्तोष धन प्राप्त हो गया है । सन्त पलटूदास ने भी कबीर के ही भाव को लेकर कहा है—

उदर बराबर खाइले, पलटू लगै न दाग ।
बासी धरै फकीर जो, घर में लागै आग ॥

अत सन्तों ने संग्रह करने के भाव का विरोध किया है जिसके आधार पर ही वैषम्य होता है । उनका आदर्श तो बहुत बड़ा है । संतोष आने पर फिर कोई किसी से हीन नहीं है । निर्धनता और ईर्ष्या भी नहीं रह जाती । इसी भाव में मस्त हो कर कबीर कहते हैं — '

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह ।
जिनको कछू न चाहिये, सोई शाहंशाह ॥

अतः सन्तों का आदर्श उस समाज का आदर्श है जहाँ सभी शाहंशाह हैं, किसी को किसी की प्रजा होने की आवश्यकता नहीं है, न हीन समझने की आवश्यकता ही । सभी अपने घर के हाकिम है, अपने घर के राजा है, इस परिस्थिति के लिए चाहिए संतोष भाव । सन्तों के विधान में कोई रैयत नहीं, इसी भाव को नीचे की पंक्तियों में महात्मा पलटूदास ने कहा है—

रैयत कौन कहावै घर घर हाकिम होय ।
घर घर हाकिम होय अदल फिर कौन चलावै ।
सब नायक होय जायँ बैल फिर कौन लदावै ॥
गधा चलै हर बैल कौन फिर बेसहै तुरकी ।
मिले कूप में मुक्ति कौन फिर मारै बुड़की ॥

काँच धुए होय कनक पारस की रहै न इच्छा ।
घर घर सम्पति होय, कौन फिर माँगै भिच्छा ।।
पलटू तैसे सन्त हैं भेष बनावै कोय ।
रैयत कौन कहावै घर घर हाकिम होय ।।

अत सन्तो के आदर्श का साम्य टिकाऊ साम्य है। उनकी दृष्टि से यथार्थ में बडप्पन भी उसका है जिसमें ऊपर लिखे गुण हो अन्यथा ससार और समाज की उपयोगिता की दृष्टि से एकान्तिक समृद्धि पर्वतशिखाओ की सी जड उच्चता और हृदयहीन गौरव व्यर्थ है। जिसके भीतर भक्ति है अर्थात् जिसके भीतर ऊपर कहे गये गुणो के आधार पर आत्मसन्तोष, परोपकार, त्याग आदि की भावनाएँ जाग्रत हो चुकी है, जिसने, सामजस्य बुद्धिद्वारा सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग तथा अहिसा आदि का प्रण लेकर जीवन भर ईश्वर का प्रेम जो मनुष्य मात्र के प्रेम का द्योतक है प्राप्त किया है, वही यथार्थ म बडप्पन की सार्थकता का लाभ उठाता है। सत पलटूदास ने इसके विपरीत बडप्पन को व्यर्थ बतलाते हुए कहा है--

बढते बढ़ते बढ़ि गये, जैसे बढ़ी खजूर,
जैसे बढ़ी खजूर पथिक छाया नहि पावै।
ज्यों त्यों कै जो करै ताहि कैसे कोउ खावै।
पात मैं काँटा रहै छुवत कै लोहू आवै।
पेड़ सोऊ बेकाम कुवा को धरन बनावै।
सम्पति में बढ़िजाय दया बिन भला भिखारी।
बढ़ि जाय भक्ति बिन भला चमारी।
पलटू सोभा दोउ की दया भक्ति से पूर।
बढते बढते बढि गये जैसे बढ़ी खजूर ।।

अत. इस यथार्थ बड़प्पन की अवस्था के लिए आत्मसन्तोष और काम-क्रोध मद-मोह लोभ का त्याग आवश्यक है। काम–क्रोधादि के रहते हुए मनुष्य समाज के लिए आदर्श व्यवहार उपस्थित नही कर सकता। इन अवगुणो से युक्त मनुष्यो का अनुकरण करने से ही समाज के अन्तर्गत विद्वेष, घृणा और हिसा की भावनायें वढती है और समाज उलझनो में फँसता जाता है। ये भाव भक्तो और सन्तो की व्यक्तिगत साधना के लिए ही आवश्यक नही, वरन् समाज के उत्थान के लिए भी आवश्यक है। अपने आत्मसंयम द्वारा हम स्वय समाज में नियंत्रण और अनुशासन की भावना जाग्रत कर सकते है। फिर हमारे ऊपर कोई शासन हो या न हो, यदि आत्मत्याग है और क्रोधादि से

निष्कृति हमें मिल चुकी है, तो फिर हम आत्मवशता को स्वीकार करते हैं, परवशता को नही। शासन के नियम तो उनपर लगाये जाते हैं जिनके भीतर सामाजिक मंगल-भावना का बोध और विवेक नही है? जो इतने संकीर्ण और अनुदार है कि अपने स्वार्थ के पीछे समाज और मनुष्यता का बलिदान कर सकते हैं, परन्तु भक्त कवियो ने जिन आदर्शों को सामने रक्खा है, वे इतने उच्च, गंभीर और सुदृढ़ है कि उनका आश्रय लेने पर हमारा समाज, यथार्थ और गंभीर सामाजिक संघटन और कल्याणकारी जीवन की नींव डाल सकता है। इन आदर्शों को ग्रहण कर चलनेवाले जीवन को प्रेरणा देनेवाला तत्व आन्तरिक प्रेम और आध्यात्मिक एकता है। ऊपर से लगाये गये राजकीय विधान नही, जिनका हम व्यक्तिगत स्वार्थों के वश चोरी चोरी उल्लंघन किया करते है और जिन नियमो के उल्लंघन में हम अपनी विजय समझते हैं। अत. जब तक इन कल्याणकारी नियमो के साथ चारित्रिक और आध्यात्मिक चेतना जागरूक नही होती तब तक अन्य प्रकार के बाह्य प्रयत्न असफलता की कठोर दीवाल से ही टकराते रहेंगे।

सतसंग

विकार को दूर करने के लिए, विवेक और चेतना को सजग रखने के लिए, आत्मिक विकास और जीवन के यथार्थ आनन्द के लिए भक्तो ने सत-संग को सर्वोच्च बताया है। सतसग का प्रभाव अबोध है, विलक्षण है। तुलसी ने मानव जीवन में सतसग से बढकर और किसी भी सुख को नही बताया। उनका स्पष्ट कथन है—

सात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग।
तुलहिं न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग।

यह सतसंग समस्त विकारो को दूर करनेवाला भी है। सज्जनो की संगति का प्रभाव रोग में दवा का सा पडता है—

एक घरी आधी घरी, आधी में पुनि आध।
तुलसी संगति साधु की, हरै कोटि अपराध॥

अत यहाँ पर सामाजिक सुधार की गुत्थी सुलझ जाती है। समाज में सज्जन पुरुषों का होना और उनका सज्जनवत् सम्मान होना दोनो बातो की हमें बडी आवश्यकता है। अन्यथा बछडे को कुत्ता बनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले दुर्जनों की समाज में कमी नही। सज्जनो की प्रतिष्ठा और सम्मान, सज्जनता के भाव का प्रचार करना, समाज के हितचिन्तको का मुख्य

काम है। अपनी चमडी बचाकर दुष्टजनो की दुष्टता की भी प्रशसा करना, समाज में अज्ञान और अन्याय के बबूल बोना है। जब तक हमें किसी भी अन्याय एव दुष्टता का विरोध करने के लिए सज्जनता का सहारा नही मिलेगा, तब तक टट्टी की आड़ में शिकार चलता रहेगा। सज्जन का आगे बढाना, उसको अधिकार देना समाज का कल्याण करना है। अत हमें सबसे पहले सज्जनो के प्रति सत्कार और समादर की भावना जगाना चाहिए। प्राय आज कल अपने अहभाव के अभिमान में आकर हम जिनमें यथार्थ गुण है उनका भी आदर नही करते है और सद्भाव एव अहिंसा की सरल एवं सात्विक वृत्ति को प्रोत्साहन न देकर उनका अपमान करते है और उन्हे अपदस्थ कराना चाहते है। जो बडे-बडे सिद्धान्तो को लेकर भी चलनेवाले है उनके भी सिद्धान्त और व्यवहार में विषमता देखने की मिलती है। सबको बराबर समझने और सबकी सहायता करने का दावा करते हुए भी हम प्राय अपनी झूठी अहम्मन्यता और दभ के कारण व्यवहार में इसके विपरीत आचरण करते है। प्रतिष्ठा का गुण अपने में न रखते हुए भी बाह्य और भौतिक सपत्ति की शक्तिवश हम बरबस दूसरो का आदर-भाव पाना चाहते है। ये सब बातें सज्जनता के वायुमण्डल को प्रचण्ड बनाने में बाधक है। इस प्रकार हम न सतसग का महत्व समझते है और न उससे कोई लाभ उठा सकते है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी पुस्तकीय ज्ञान को ठूँस देने की अपेक्षा सतसग द्वारा जीवन का विकास विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। भारतीय शिक्षा की व्यवस्था जो आश्रम और गुरुकुल-प्रणाली के रूप में थी, सतसग को ही प्रधान मानकर चलती थी। अतः सतसग का सामाजिक जीवन के परिष्कार और उत्थान दोनो की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है। आजकल भी जो अनेक सस्था परिषद्, समाज, समारोह तथा सम्मेलन आदि का प्रचलन है वह सतसग को ही दृष्टिकोण में रखकर है, पर सतसग का वास्तविक मूल्य हम आजकल समझ नही रहे। सतसंग जितना आजकल सुलभ है, उतना पहले कभी न था। फिर भी हमारी प्रवृत्ति जितनी अहम्मन्यता और अश्रद्धा से आज भरी है, उतनी भी वह पहले कभी नही थी।

भक्तो ने सतसग को हमारे जीवन के लिए पारस माना है, जो विकार-युक्त लोहे के समान जीवन को अपनी सत्प्रेरणा द्वारा सोने के समान कर सकता है। सतसंग से जिनका जीवन सुधर गया उनकी कथायें हमारे समाज में काफी प्रचलित है। ऐसी सतसगति का हमारे सामाजिक जीवन में कम मूल्य नही।

सभी भक्त कवियों ने सतसंग के महत्व का वर्णन किया है। कबीर, तुलसी, सूर आदि ने इसके प्रभाव की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। रैदास भक्तों और संतों के लिए सतसंग के आनन्द का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

आज दिवस लेऊँ बलिहारा।
मेरे घर आया राम प्यारा॥ टेक
आँगन बँगला भवन भयो पावन।
हरिजन बैठे हरिजस गावन॥१॥
करूँ दंडवत चरन पखारूँ।
तन मन धन उन ऊपर वारूँ॥२॥
कथा कहें अरु अर्थ विचारें।
आप तरें औरन को तारें॥३॥
कह रैदास मिलें निज दासा।
जनम जनम के काटें पासा॥४॥

अतः भक्तों के लिए तो हरिजन-हरिभक्त स्वयं ईश्वर का स्वरूप है। सज्जनों और संतों के आदर से समाज में ज्ञान और सद्वृत्तियों का प्रकाश फैलता है। अतः सतसंग का सामाजिक महत्व है।

ईश्वर पर विश्वास, अद्वैत भावना और साम्य

भक्तों-द्वारा प्रतिपादित इन समस्त आदर्शों के मूल में ईश्वर की सत्ता पर अटूट विश्वास है। ज्ञानी संत ईश्वर, जीव और प्रकृति में कोई अन्तर नहीं देखते और सभी को परमात्म-रूप मानते हैं। भक्त ईश्वर की सत्ता को ही समस्त चर और अचर में व्याप्त देखते हैं, अन्तर्यामी रूप में वह समस्त जड़ और चेतन में निवास करता है। विराट् रूप में समस्त विश्व और ब्रह्माण्ड उसी के अंग प्रत्यंग हैं और सब मिल कर उसके रूप को पूरा करते हैं। अतः समस्त मानव समाज के प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्त ईश्वर के दर्शन करना, प्रत्येक को उसी रूप का समझना, गहरी सामाजिक साम्य भावना के लिए आवश्यक है। सामाजिक न्याय, एकता और साम्य की दृष्टि से ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करना हितकर है। हमें अनवसर और निर्बलता की अवस्था में भी उसका सहारा रहता है, साथ ही व्यक्ति द्वारा दुराचरण या अन्याय को देखकर भी उस परम व्यक्तित्व के द्वारा न्याय की आशा रख कर अपनी ओर से हम सत्कर्तव्य की ओर चलते रहते हैं। ईश्वर का अद्वैतभाव से दर्शन और उसकी सर्वव्यापकता पर विश्वास हमें सत्य को ग्रहण कर चलने में बल देता

है और भौतिक परिस्थिति की विषमता उपस्थित होने पर भी हमारे आचरण और व्यवहार में सामजस्य को बनाये रखता है। अत भक्त कवियो ने अनन्य-भाव से उसी घट-घट व्यापी की सत्ता के दर्शन किये है। सत कवियो का दृष्टिकोण बहुत उदार है और उसका सामाजिक महत्व है। उस तत्व के यथार्थ स्वरूप को हृदयगम करके उन्होने रूढि का खडन कर समाज में मनुष्य का महत्व बढाया है। ज्ञान-समुद्र ग्रन्थ के प्रारभ में भक्त कवि सुन्दरदास वन्दना करते हुए कहते है —

ब्रह्म प्रणम्य प्रणम्य गुरु पुनि प्रणम्य सब सत।
करत मंगलाचार इमि नासत विघ्न अनत॥
उन्है ब्रह्म, गुरु संत उह, वस्तु विराजत एक।
वचन विकास विभाग त्रय बन्दन भाव विवेक॥

इस प्रकार से ब्रह्म, गुरु, सत एक रूप है। सतो में ईश्वर के ही गुण विद्यमान रहते है। ईश्वरीय चेतना और जागृति के रूप सन्त है। अत निर्गुणोपासक सन्तो ने भी निर्गुण ब्रह्म के सगुण रूप में गुरु और सन्त जनो को देखा है। कबीर ने उसके दोनो रूपो के प्रति कर्तव्य बताते हुए भी एक रूप से रूढिबद्ध न होने की बात कही है :—

सरगुण की सेवा करो,
निरगुण का करु ज्ञान।
निरगुण सरगुण के परे,
तहाँ हमारा ध्यान॥

उसका निर्गुण रूप, ज्ञान के लिए और सगुण रूप व्यवहार के लिए है। सेवा के लिए सगुण रूप है और ईश्वर के सगुण रूप इस ससार में सत जन ही है। महात्मा पल्टू साहिब सत और राम को एक मानते हुए लिखते है :—

संत और राम को एक कै जानिये,
दूसरा भेद ना तनिक आनै।
लाली ज्यो छिपी है मेंहदी के पात में,
दूध में घीव यह ज्ञान ठानै॥
फूल में बास ज्यो काठ में आग है,
संत में राम यहि भाँति जानै।
दास पलटू कहै संत में राम है,
राम में संत यह सत्य मानै॥

इस भाव में कोई असगति नही। जो ईश्वर घट-घट में व्याप्त है वह

संतो में विशेष रूप से प्रकाशित है। अत घट-घट में व्याप्त ईश्वर-भावना का ही यह एक पक्ष है। सत इसलिए भी ईश्वर रूप है कि उनकी कृपा से ही इस प्रकार ईश्वर की व्यापकता प्रकट होती है। ईश्वर के सम्बन्ध का यह अनुभव समदृष्टि या साम्य भावना या सामंजस्ययुक्त बुद्धि द्वारा ही सुलभ होता है उसके बिना नही, और यह समदृष्टि या साम्यभावना, लोक जीवन या सामाजिक जीवन के लिए भी महत्वपूर्ण है, क्योकि यह पारस्परिक भेद-भाव का नाश कर सभी को उस ईश्वर के नाते एक समझने की निर्मल दृष्टि प्रदान करती है। बिना इस समदृष्टि के भ्रम नही मिट सकता और यही भ्रम ही समाज की उलझनो का मूल है। अत साम्य बुद्धि को पाने पर ईश्वर के अनुभव का प्रकाशन कबीर ने यो किया है :—

समदृष्टी सतगुर किया, मेटा भरम विकार।
जहँ देखौं तहँ एक ही, साहिब का दीदार॥
समदृष्टी तब जानिये, सीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा, लखै एक सी सोय॥

अत जो विश्वास या जो आदर्श हमें इस प्रकार की दृष्टि देने में समर्थ हो सके जिससे कि पारस्परिक भेद-भाव मिट सके, वह मानव समाज के लिए परम कल्याणकारी है। अत सत कवियो की इस आध्यात्मिक चेतना के भीतर हमें सामाजिक साम्य का यथार्थ रूप स्पष्ट दीखता है। कहने की आवश्यकता नही कि हमारे जीवन में भी यथार्थ सामाजिक साम्य के लिए इसी प्रकार की सामजस्यपूर्ण दृष्टि चाहिये जिसके बिना ऊपर से आरोपित सामाजिक साम्य के प्रयत्न हमारे जीवन में गहरे नही उतर सकते।

इस साम्य भावना या समदृष्टि को सतो ने पा लिया था। और इसी को प्राप्त करने के कारण ही समाज के अन्तर्गत व्याप्त भेद-भाव की भावना उन्हें असह्य जान पडी और लगभग सभी सन्त कवियो ने इस प्रकार के धर्म, वर्ग, जाति या वर्णभेद के विपरीत कहा है। उन्होने समस्त कृत्रिमता से उत्पन्न भेद-भाव को चाहे वह धार्मिक, सामाजिक, या व्यक्तिगत किसी भी जीवन में क्यो न हो व्यर्थ कह कर मनुष्य को पहचानने का उपदेश दिया है। मानव की सेवा ही ससार में सबसे बडा काम है और उनके इस भाव को सामने पाकर हम कह सकते है कि आज कल की हमारी सामाजिक धारणाएँ और आदर्श इनसे नितान्त भिन्न नही है। कृत्रिम एव जड मूर्तिपूजा आदि की अपेक्षा जीवित मनुष्य की सेवा पर अधिक ज़ोर देते हुए सत पलटूदास ने कहा है :—

जल, पखान बोलै नही, ना कुछ पियै ना खाय।
पलटू पूजै संत को, सब तीरथ तरि जाय॥

इसी प्रकार :—

हिन्दू पूजै देवखरा, मुसलमान मसजीद।
पलटू पूजै बोलता, जो खाय, दीद बरदीद॥

इस प्रकार से रूढि को खडन कर सामाजिक कल्याण की बातें सन्तो की वाणी में हमें बराबर देखने को मिलती है, जो उनके सामाजिक आदर्शो के सकेत है।

जातिभेद और वर्णभेद द्वारा जो समाज की हित-हानि हुई है उसको दृष्टि में रखकर रूढिगत भेद का खडन करते हुए सत कवियो ने बडी खरी बातें कही है और यह सिद्ध किया है कि यथार्थ में मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नही, यह कृत्रिम भेद-भाव ही सारे लडाई-झगडे की जड है। कबीर ने लिखा है :—

हिन्दू कहूँ तो हौं नहीं, मुसलमान भी नाहिं।
पांच तत्व का पूतला, गैबी खेले माहिं॥

गोरखनाथ ने भी कहा था कि "हिन्दू-मुसलमान खुदाई के बन्दे, हम जोगी न रखै किसइ के फन्दे"। जब हिन्दू-मुसलमान में भेद-भाव नही, तब सन्त की दृष्टि से ब्राह्मण-क्षत्री-वैश्य-शूद्र में क्या भेद हो सकता है ? कबीर का विचार है कि वास्तविक भेद कोई नही, कृत्रिमता का ही भेद है। जन्म और मृत्यु के समय दोनो एक ही है। बीच के जीवन में कुछ वाह्य पदार्थो के आधार पर हम चाहे उनमें भिन्नता मानें, पर यह धोखा देना है। उन्होने लिखा है:—

जन्मत शूद्र भये पुनि शूद्रा।
कृत्रिम जनेऊ घालि जग दुंद्रा॥

संत नानक जी भी इस प्रकार का भेद-भाव व्यर्थ मानते है। उनके विचार से ईश्वर के लिए कोई भेद इनमें नही है, वह किसी को कोई वस्तु वर्णभेद का ध्यान रख कर नही देता है, वरन् साधना करनेवाले व्यक्ति को वह चाहे जिस वर्ण का है उसकी साधना का फल देता है। ईश्वर की कृपा सब पर है।

खत्री ब्राह्मण शूद्र वैश, जाति पूछि न देई दाति।
नानक भागे पाइये, त्रिह पहरे पिछली राति॥

दादू, मलूकदास आदि सतो ने भी इसी प्रकार के भावो का प्रकाशन किया है। पलटूदास जी कर्म को ही प्रधान मानते है और वह कर्म है भक्ति, जिसके पास है वही पूज्य है। उनका कथन है —

पलटू ब्राह्मन है बड़ा, जो सुमिरे भगवान ।
बिना भजन भगवान के, ब्राह्मन ढेढ समान ॥

ब्राह्मण सतोगुणी शक्तिसम्पन्न व्यक्ति है, उसमें ज्ञान, भक्ति का प्रकाश होना चाहिए। यथार्थ अन्तर यदि पड़ सकता है तो इस प्रकाश से। जब वह प्रकाश ही नही, तब फिर दूसरो से क्या अन्तर रहा ? यथार्थ में भक्तिपथ पर चलनेवाले सभी जन संत या भक्त एक जाति के ही है। उनमें किसी प्रकार का भेद-भाव नही है। इसीलिए स्वामी रामानन्द ने अपने शिष्यो को वैरागियो की जाति कहा था, जिनमें चारो वर्णों के व्यक्ति ही नही कबीर जैसे मुसलमान भी थे। उनमें बहुत से अस्पृश्य और निम्न श्रेणी के थे, जैसे सेना, धना, सदना, रैदास आदि सभी इसी प्रकार के संत थे। अब उनमें जाति-भेद काहे का ? ईश्वर को पहिचाननेवाले सभी एक है। पलटूदास ने कहा है कि इस साम्य के भीतर वर्णभेद भाव भी व्यर्थ है —

चारि बरन को मेटि कै, भक्ति चलाया मूल ।
गुरु गोविन्द के बाग में, पलटू फूला फूल ॥

यह साम्य भावना का फूल था जिसकी सुगंध आज तक इन भक्तो की वाणियो में महक रही है। और इसी साम्यभावना से प्रसूत एकत्व की ओर संकेत करते हुए महात्मा दादूदयाल ने कहा था कि —

जे पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै बाति ।
सबै सयाने एक मति, उनकी एकै जाति ॥

तो आज भी हमें इन सन्तो की सामाजिक साम्य और एकता की भावना को आदर्श मान कर सामाजिक सुधार करना है। समाज का वह निर्माण, जो इन सन्तो की निर्मल दृष्टि-द्वारा देखे तत्वो, और सूक्ष्म संकेतरूप वाणियो द्वारा व्यक्त आदर्शो के सहारे होगा, वह चिरस्थायी होगा। उसकी एकता और समता की नीव पर युग-युग तक खड़े रहनेवाले सर्वजन कल्याणकारी भव्य भवनो का निर्माण हो सकता है। अन्यथा ऊपरी साम्य पर आधारित कागज के घर एक ही झोके में न जाने कहाँ उड़ जायेंगे !

गोस्वामी तुलसीदास का समाजवाद

आधुनिक ससार विभिन्न वादो का लीलाक्षेत्र है। ये वाद प्रमुखतया राजनीतिक है जो हमारे साहित्य, समाज और सस्कृति सभी को प्रभावित करते है। हम प्राचीन काल में इन वादो का प्रचुर प्रभाव देखते है। भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में अद्वैतवाद, मायावाद विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, आदि साहित्य के क्षेत्र में रसवाद, ध्वनिवाद आदि के नाम सुनत है, किन्तु समाज और राजनीति के क्षेत्र मे अनेक वादो की चर्चा अधिक नही है। कुछ ऐसा जान पड़ता है कि पूर्ववर्ती जन साधारण इन वादो के पचडे में नही पडना चाहते थे। अत. हमें प्राचीन युग में इनकी वैसी धूम नही दिखाई देती जसी आजकल है। किन्तु इसका यह निष्कर्ष निकालना उचित नही कि आज के इन वादो में कुछ ऐसी मौलिक खोज और कल्पनाएँ है जो हमें उस समय देखने को भी नही मिलती। समस्त भारतीय साहित्य में 'समाजवाद' आदि के तत्व किस रूप में मिलते है इस पर लिखने के लिए अधिक अवकाश की अपेक्षा है और इस प्रकार के कार्य को कोई बहुत बड़ा विद्वान् पुरुष ही कर सकता है। यहाँ पर मेरा उद्देश्य केवल यह सकेत कर देना है कि हमारे हिन्दी साहित्य में अतिशय प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओ मे भी समाजवादी धारणाओ के मूलभूत तत्व ही नही, वरन् विकसित आदर्श विद्यमान मिलते है। साथ ही साथ मेरा यह भी विश्वास है कि इन आदर्शो पर आकर समाजवाद भारतीय विशेषता को अपनाता हुआ भी सुदृढ और स्थायी साम्य और विश्वप्रेम को विकसित करने में समर्थ हो सकता है।

गोस्वामी तुलसीदास मर्यादावादी थे, किन्तु रूढिवादी नही। लोक-परपरा और वेद के मगलकारी नियमो को पालन करने में और प्रतिष्ठित गुरुजनो का अनुशासन मानने में वे मर्यादावादी थे और इस मर्यादावाद की अवहेलना आज भी हम नही कर सकते। किसी भी समाज के लिए उसके विकास और स्थिति के लिए आवश्यक नियमो का निर्वाह और गुरुजन तथा अधिकारी जनो की आज्ञा

का पालन आवश्यक है। अत केवल इन बातों को देखकर ही हमें उनकी धारणाओं को हेय नहीं समझना चाहिए। हम आधुनिकता के आवेश में आकर जो प्राचीन है उन सभी के प्रति यदि दुर्भाव रखने लगें तो यह रूढ़िवादियों की हठधर्मी से किसी प्रकार कम नहीं। हमें सदा विवेक की दृष्टि रखनी चाहिए और जहां कहीं भी गुण मिल सके उन्हें ग्रहण करना चाहिए। यों तो गुण-दोष संसार की सभी बातों के भीतर मिल ही जाते हैं। संसार में न तो कभी पूर्ण दोषहीन गुण की स्थिति रही है और न समस्त गुणहीन अवगुण ही की। इसी लिए गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि —

जड़ चेतन गुणदोषमय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥

अत. आवश्यक यही है कि आंखें खोल कर नवीन में जो कुछ भी हितकर है उसे अपनावें और प्राचीन में भी जो हमें साधे हुए है और तथ्यपूर्ण है उसे ठुकरा न देवें। साहित्य के सबंध में कही गई इसी प्रकार की उक्ति का अनुसरण हमारे लिए आवश्यक है। उक्ति यह है —

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्त परीक्षान्तरद्भजन्ते, मूढ़ परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥

इसी प्रकार खुली दृष्टि और उदार चित्त से अपनी विवेक-बुद्धि के आधार पर ही किसी वस्तु का ग्रहण और त्याग करना चाहिए।

आजकल प्रचलित शासनतन्त्रों में प्रमुख राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, जनतन्त्र, समाजवाद साम्यवाद आदि हैं। इनमें राजसत्ता पर हमारा विश्वास उठ गया है, क्योंकि इसके अनुसार मनुष्य-मनुष्य के भीतर भेद और विषमता की भावना विशेष तीव्र होती है। प्रजातन्त्र, राजतन्त्र की प्रतिक्रिया है किन्तु उसका कोई स्थान नहीं, क्योंकि प्रजा शब्द राजा शब्द के साथ ही सबंधित है। जो राजा नहीं, तो प्रजा रूढ़ि अर्थ में नहीं चल सकता अन्य अर्थों जैसे संतान, पुत्र आदि में चाहे चले। जनतन्त्रों के अन्तर्गत ही आज के शासन-विधानों का आधार है, इनमें से किसी में प्रत्येक के राजनीतिक और सामाजिक स्थिति के साम्य पर जोर दिया जाता है और कहीं नहीं। यही दशा अधिकतर साम्य की है किन्तु इसको मानने में हमें संकोच नहीं होना चाहिए कि धीरे-धीरे हम मनुष्यमात्र को समान समझने की सुदृढ नींव डालने का प्रयत्न कर रहे हैं और इस दिशा में सबसे बढ़कर कार्य 'समाजवाद' का है।

समाजवाद का विस्तृत विवेचन भी यहाँ पर मेरा अभिप्राय नहीं, किन्तु तुलसी की समाजवादी धारणा और उसके राज्यादर्श में व्याप्त इन तत्वों को

स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके भीतर आनेवाली आधारभूत बातो का उल्लेख कर दिया जाय। अत. इस सबंध में प्रमुख बातें ये है —

(१) सभी व्यक्ति समान है। कोई किसी से घट-बढ कर नही, अत सभी को समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

(२) प्रत्येक को अपनी योग्यता भर काम करना चाहिए।

(३) प्रत्येक को उसके कार्य के अनुसार वस्तुएँ प्राप्त होनी चाहिए।

(४) जो काम न करेंगे, उन्हें खाना पाने का कोई अधिकार नही।

(५) प्रत्येक का काम समाज के हित के लिए होना चाहिए।

(६) सम्पत्ति व्यक्ति की नही, वरन् समाज की है।......आदि आदि।

इनमें से हम एक-एक पर विचार करेंगे।

सबसे पहली बात है सबको समान समझना। तुलसी के रामचरितमानस में ही नही, वरन्, सन्त कवियो की लगभग सभी रचनाओ में समानता का भाव विद्यमान है। मनुष्य-मनुष्य में भेद समझना, यह भारतीय दृष्टि से मूर्खता है। गीता का स्वय कथन है :—

"शुनि चैव श्वपाके च पडित समदर्शिन"

पडित की दृष्टि में भेदभाव नही होना चाहिए। तुलसी के रामचरित मानस में वर्णित रामराज्य के अन्तर्गत यही भेदभाव हीनता ही नही द्वेषभाव हीनता तक विद्यमान है। तुलसी कहते है —

"रामराज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका।
बैर न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥"

कोई किसी से बैर नही करता, क्योकि बैर करने का प्रधान कारण विषमता है भी नही। साथ ही साथ हृदय के भीतर भी विकार नही जो अकारण ही द्वेष का बीज बो सकता है।

दूसरी बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति योग्यता के अनुसार काम करे। यह बात भी रामराज्य में है और इतनी ही नही इससे भी आगे कि सभी पुण्यकार्य अर्थात् लोक-कल्याण के कार्य करते है सभी गुणवान् और पडित है। कोई मूर्ख और आलसी नही, देखिये —

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।
सब निर्दभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी।
सब पण्डित सब पूरन ज्ञानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी।

इससे प्रकट होता है कि प्रत्येक स्थिति में सभी समान है और सभी कर्मण्य

है। जब उनमें अच्छे लक्षण हैं तो वे आलसी या कामचोर नहीं हो सकते। साथ ही साथ इसी बात की पुष्टि गीतावली के भी एक पद से होती है :—

बनते आइ कै रजा राम भये भुआल।
मुदित चौदह भुवन, नर सुख सुखी सब सब काल।
मिटे कलुष कलेस कुलषन, कपट कुपथ कुचाल।
गये दारिद दोष दारुन, दंभ दुरित दुकाल।
कामधुक महि कामतरु तरु, उपल मनिगन लाल।
नारि नर तेहि समय सुकृती, भरे भाग सुभाल॥

इस प्रकार सिद्ध होता है कि सभी सुकृती अर्थात् अच्छे कर्म करनेवाले थे। अतः योग्यतानुसार कर्म करना, तो निश्चित ही है। साथ ही ये कार्य उनके व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित न होकर समाज और लोक की कल्याण-भावना से युक्त थे। इसका प्रमाण ऊपर आये 'सुकृती' शब्द से भी मिलता है। और नीचे की पंक्तियों से भी :—

सब उदार सब पर उपकारी। विप्र चरनसेवक नर नारी।
सब निर्दम्भ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी।

इससे यह पता लगता है कि उस समय के मनुष्यों के कार्यों का लक्ष्य व्यक्तिगत स्वार्थ न होकर समस्त समाज का कल्याण करना था और जब प्रत्येक के काम परोपकार और सम्पूर्ण समाज के हित के हैं तब व्यक्तिगत सपत्ति का कोई महत्त्व नहीं है। कार्य, समाज हित के लिए हैं तो उसका परिणाम, सपत्ति भी समस्त समाज के उपयोग के लिए है ही। इस प्रकार हमें पाँचवी और छठवी बातो के प्रमाण मिल जाते हैं।

जो जितना करेगा उसे उतना ही मिलेगा और न करनेवाले को कुछ न मिलेगा, इस सबध में विचार करने पर यही कहना पडता है कि जहाँ पर सभी अच्छे कर्म करनेवाले है, वहाँ पर यह प्रश्न ही नही उठता। प्रत्येक को उसके कर्म के अनुरूप ही वस्तुएँ प्राप्त होगी, यह बात न्याय पर निर्भर करती है और त्यागी एवं न्यायी अधिकारियो के होने पर ही चल सकती है। राम जैसे न्यायप्रिय और त्यागी के राज्य में इसमें कोई कमी नही हो सकती।

इसके अतिरिक्त इन बातो से सबधित प्रश्न तब उठता है जब देश गरीब और निर्धन हो। यदि देश पूर्ण समृद्ध और सम्पत्तिशाली है तो वस्तु की कमी किसी को नही रहती। साथ ही एक बात और होती है कि मनुष्य इन दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए केवल उत्पादन में व्यस्त न रह कर अपन बौद्धिक

अथवा आत्मिक विकास के कार्य करता है। राम राज्य में देश समृद्ध और वैभवशाली है इसका वर्णन देखिये —

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन, रहहिं एक सग गज पचानन।
लता बिटप माँगे मधु चुवहीं, मनभावतो धेनु पय स्रवही।
ससि सम्पन्न सदा रह धरनी, त्रेता भइ कृतयुग की करनी।
प्रगटी गिरिन्ह विविध मनि खानी, जगदातमा भूप जग जानी।
सागर निज मरजादा रहहीं, डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं।

यह तो सर्वजनसुलभ भरण-पोषण और अलकरण के उपयोग की वस्तुएँ थी। जिन्हें यथावश्यक रूप में सभी प्राप्त करते थे। साथ ही साथ अयोध्या के निवासियो की सपत्ति-वैभव का दृश्य भी बड़ा आकर्षक है। तुलसी ने लिखा है —

बहु मनि रचित झरोखा भ्राजहिं, गृह गृह प्रति मनि दीप विराजहिं।
मनि दीप राजहिं भवन भ्राजहि देहरी विद्रुम रची।
मनि खंभ भीति विरचि बिरची कनक मनि मरकत खची॥
सुन्दर मनोहर मंदिरायत अजिर रुचिर फटिक रचे।
प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्ह खचे॥

यह जनसमृद्धि का दृश्य है। रामराज्य की जनता को आवश्यकतानुसार सभी वस्तुएँ सुलभ थी। वस्तु सुलभता प्रकृति और मानव समाज दोनो के द्वारा सपादित होती थी। प्रकृति के क्षेत्र में आवश्यक वस्तुएँ फल-फूल अन्नादि सुलभ थे, इसका सकेत ऊपर मिल चुका है। साथ ही साथ इन वस्तुओ के उत्पादन में सहायक तत्व भी नियमित और अनुकूल थे। देखिये तुलसी कहते हैं —

विधु महि पूर मयूखन्हि, रवि तप जेतनहिं काज।
माँगे वारिद देहि जल, रामचन्द्र के राज॥

इस प्रकार सभी लोग सब प्रकार से सुखी थे। यही रामराज की विशेषता थी। इससे बढकर और समानता क्या हो सकती है और समाज के सपत्ति पर अधिकार का प्रमाण और क्या हो सकता है कि बाजार में प्रत्येक को आवश्यकतानुसार वस्तु मिल सकती थी, उसके लिए मूल्य चुकाना आवश्यक न था।

बाजार रुचिर न बनइ बरनत वस्तु बिनु गथ पाइये।
जहँ भूप रमानिवास तहँ की संपदा किमि गाइये॥

आजकल हमारे देश के असख्य व्यक्तियो को कुछ विदेशी शासन-प्रणाली में बड़ा आकर्षण है कि वहाँ लोगो को बिना दाम दिये मुफ्त चीजें मिल

जाती है पर अपनी प्राचीन व्यवस्था में भी ऐसी बात थी । आजकल ही देश की निर्धनता के कारण यह बात है, अन्यथा रुपये-पैसे और मूल्य चुकाने की बात हमारी गाँव-व्यवस्था में अधिक महत्व न रखती थी । वहाँ पर तो यदि एक की आवश्यकता से अधिक वस्तु है तो उसे लोगों को बाँट देना, परम्परागत नियमों के अन्तर्गत रहा है । अब तो ज्ञान के अभाव के कारण ही है कि इतनी अधिक लोलुपता बढ़ गई है ।

राम राज्य के अन्तर्गत काम का महत्व था । इस पर पहले कहा जा चुका है, किन्तु इस प्रसंग में इतना और कहना है कि चाहे कोई कितना ही बड़ा पद का हो वह भी कार्य करता था इसका भी प्रमाण हमें मिलता है । सीता को सभी सुविधाएँ प्राप्त थीं । जैसे—राग, धर्म, निवसन, उनके पास सेवक और दासियां थीं फिर भी वे अपना और घर का काम स्वयं करती थीं । देखिये :—

यद्यपि गृह सेवक सेवकिनी । विपुल सदा सेवा विधि गुनी ।
निज कर गृह परिचरजा करई । रामचन्द्र आयसु अनुसरई ॥

इस प्रकार समान स्थिति, समान योग्यतानुसार कार्य और सम्पति-विभाजन आदि समाजवादी धारणा की प्रमुख बातें हमें तुलसी के सामाजिक आदर्श में देखने को मिल जाती हैं । और हम कह सकते हैं कि तुलसी की समाज-सम्बन्धी धारणा बड़ी गहरी नींव पर रखी हुई थी । वास्तव में यदि हम विचार कर देखें तो कह सकते हैं कि तुलसी मानव-जीवन की सामाजिक व्यवस्था पर ही आस्था रखनेवाले व्यक्ति थे । राजकीय व्यवस्था पर उनका उतना विश्वास न था जितना सामाजिक व्यवस्था पर । तुलसी के राजा राम भी प्रारम्भ से अन्त तक समाज और उसकी एक छोटी इकाई परिवार के पुरुष हैं, प्रजा के राजा नहीं । दशरथ भी अपनी प्रबल इच्छा राम को राज्य देने की होते हुए भी सब की सम्मति के अनुसार ही काम करते हैं —

जौं पाँचे मत लागै नीका । देउ हरषि हिय रामहिं टीका ।

इससे यह प्रकट है कि यदि सब का मत न हो तो राम को राज न दिया जाये और किसी दूसरे को भी दिया जा सकता था । इस प्रकार से उस समय की सामाजिक व्यवस्था मूलरूप से पचायत या जनमत पर आधारित थी, मनमानी और स्वेच्छा पर नहीं ।

ऐसा इसीलिए सभव था कि उस समय व्यक्ति के भीतर त्याग की प्रबल भावना थी । लोलुपता और अनगद न था और विशेष रूप से दशरथ, राम, भरत जैसे व्यक्तियों में । राज्य तक ठुकराया और त्यागा जा सकता है । तो अन्य वस्तुएँ तो बहुत ही साधारण हैं । राम के हृदय में यह त्याग-भावना

प्रारम्भ से ही विद्यमान थी। जिस समय राज्याभिषेक की वात ही चली थी उसी समय उनके हृदय में चिन्ता और मन में तर्क उपस्थित हुआ था कि —

जनमे एक सग सव भाई। भोजन सयन कैलि लरिकाई।
विमल वंश यह अनुचित एकू। बंधु बिहाय बड़ेहि अभिषेकू ।।

यह तर्क-वितर्क मन में त्याग और समानता के भाव के कारण ही उपस्थित हुआ था, अन्यथा इस प्रकार का वैभव मिलने पर ऐसा तर्क तो दूर रहा और ऊार से उसे समग्र हडप कर जाने के लिए षडयन्त्र और हत्यायें तक होती है। इससे हमें उस समय की सामाजिक चेतना से युक्त दृष्टिकोण का प्रमाण मिलता है।

आजकल हम समान आर्थिक आधार और राजनीतिक अधिकार सुलभ करके मनुष्य समाज में समता लाना चाहते हैं, इसके भीतर समाजवाद की स्थापना करना चाहते है किन्तु, केवल वाह्याधार की ही समानता से चिरस्थायी समत्व कायम नही किया जा सकता। इसके भीतर आन्तरिक साम्य की प्रतिष्ठा भी आवश्यक है और रूसो, कार्लमार्क्स, लेनिन आदि महात्मा विचारको के द्वारा प्रतिष्ठित यूरोपीय साम्य या समाज-भावना के साथ-साथ भारतीय आधार और दृष्टिकोण भी पूर्णत अपेक्षित है। इसी आधार की प्राप्ति के लिए पन्द्रहवी, सोलहवी और सत्रहवी शताब्दी के भक्तो और सन्तो ने आन्दोलन चलाया था। उनके भीतर आत्मसयम, साधना और सबके प्रति समान प्रभाव प्रमुख रीति से विद्यमान थे, जो मनुष्य-मनुष्य में समामता का भाव स्थापित करके समस्त मानव-समाज की सेवा का उपदेश देते थे। किन्तु, उन्होने भी आन्तरिक साम्य वास्तविक ऐक्य, द्वैतबुद्धिहीनता को प्राप्त करने के लिए, सर्वान्तिर्यामी ईश्वर की अनुभूति करने की वडी आवश्यक्ता समझी- थी। जब हम यह समझते हैं कि एक सर्वशक्तिमान ज्योति या चेतनशक्ति सबके भीतर व्याप्त है, तव हम यथार्थ में सबको समान समझते हैं और ध्यान रखते हैं कि किसी व्यक्ति का अपमान करना उस शक्ति का अपमान है, जो उसके भीतर भी है। अत कबीर ने सामाजिक शिष्ट व्यवहार की जागृति के लिए कहा था कि :—

घट घट में वह साई रमता।
कटुक वचन मत बोल रे ।।

अत: यदि हम व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधना की बात छोड़ दें तो भी सामाजिक एकता के लिए ईश्वर की आवश्यकता है। ईश्वर का सामाजिक महत्व है। यदि इस प्रकार सर्वत्र ईश्वर की व्याप्ति का अनुभव समाज के प्रत्येक व्यक्ति को हो जाय तो स्थायी सामाजिक समानता स्थापित हो सकती है।

है। संतों और भक्तों की दृष्टि तो विश्वप्रेम से पूर्ण थी और वे उस ईश्वर का अस्तित्व चेतनों में नहीं, जड़ के भीतर भी करते थे। तुलसी ने इस प्रकार हमारे आन्तरिक सामंजस्य को प्रेरित करते हुए लिखा है —

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।
बन्दहुँ सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥

हम कह सकते हैं कि इन सन्तों और भक्तों ने अपने अत्यन्त ऊँचे आदर्श और गहरी साम्यभावना के आधार पर इतनी लम्बी दासता के बीच भी हमारे चरित्र-गुणों और संस्कृति की रक्षा की है। और आज भी हमें मार्ग दिखा रहे हैं।

इन बातों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय समाज की रचना, समान आर्थिक आधार और राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ आध्यात्मिक एकता के आधार पर होनी चाहिए। इसके बिना होगा यही कि जब तक चरित्रवान अधिकारी हमारे इस आधार को लेकर चलते हैं, तभी तक यह साम्य रह सकेगा और हमारे देशगत, जातिगत, वर्णगत स्वार्थों और संकीर्ण विचारों के सामने वास्तविक विश्वप्रेम विकसित नहीं हो पायेगा। हम अपने विचारों को दूसरों पर आरोपित करने के लिए न जाने कितनों की हत्या कर देते हैं, जिसका दुष्परिणाम यह होता है कि विरोधी दलों के भीतर इस स्थायी मानवप्रेम और विश्व प्रेम का महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए।

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि राम ने भी रावण का संहार किया, वह क्यों ? तो इसके उत्तर में हमें यही कहना है कि वहाँ निर्विशेषत शत्रु का संहार नहीं वरन्, मानव-जाति के पीडक और नाशक रावणादि राक्षसों का ही है जिनका जीवन दूसरों के नाश पर निर्भर करता है। विभीषण आदि के प्रति उनका द्वेष-भाव नहीं।

यथार्थ में कोई भी तंत्र या व्यवस्था क्यों न हो, यदि उसके भीतर आन्तरिक चेतना, सच्चाई, ईमानदारी, सहृदयता को जाग्रत करनेवाला कोई तथ्य विद्यमान है तब तो कार्य चल सकता है, अन्यथा नहीं। इसी की पूर्ति के हेतु उन्होंने वर्णाश्रम धर्म पालन का इतना महत्व समझा था। यह वर्णाश्रम धर्म सामाजिक साम्य के आधार पर था, कोई किसी से घट-बढ कर है, इस भावना पर नहीं। वर्ण-व्यवस्था, अनिश्चित रूप में सभी देशों में है और वह जन्म से नहीं, कर्म से होनी चाहिए, यह हमें आज भी अमान्य नहीं है किन्तु आज वह इतनी विकृत हो गई है कि हम उन शब्दों का नाम तक भी लेना ठीक नहीं समझते, किन्तु बिना नाम दिये हुए भी सामाजिक कार्य करनेवालों के विभिन्न

वर्ग ही इसके भीतर है। बुद्धिजीवी, सैनिक, व्यापारी और समाजसेवक आदि आज भी है। आश्रम-व्यवस्था हमारी जनसख्या और स्वास्थ्य को ठीक और सतुलित रखने के लिए आवश्यक है। साथ ही साथ सपत्ति और वैभव के प्रति त्याग-भावना जगाने के लिए भी अपेक्षित है। अन्यथा वृद्धावस्था मे भी अधिकार-लोलुपता और सपत्ति जोडने का मोह नही छूटता और जिसके परिणामस्वरूप नवयुवक समुदाय का भी पतन होना है। अत वर्णाश्रम-व्यवस्था किसी न किसी रूप में हमारे समाज के लिए उपयोगी है ही। उसमे आवश्यक परिवर्तन अपेक्षित है।

तुलसी के समाजवाद के अन्तर्गत समाज के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति व्यवहार का शिष्ट, त्यागपूर्ण, मधुर आदर्श आदर्श होना आवश्यक है और इस सबध मे राम और भरत का चरित अनुकरणीय है। राजा भी समाज का उसी प्रकार एक सदस्य है जैसे पिता-पुत्र परिवार के और इसी प्रकार समाज के। किन्तु पिता-पुत्र के सबध की अपेक्षा राजा-प्रजा का सबध क्षीण और क्षणभगुर है, प्रजा अपने अधिकार से उसे हटा सकती है। अत राजा को भी समाज के सदस्य-रूप मे अपना कर्तव्य निभाना है। इसीलिए राजा के लिए पुत्रवत् प्रजापालन का आदर्श सामने रख कर केवल अधिकार द्वारा सबध-सूत्र को न जोडकर स्नेह द्वारा उसको जोड दिया है। गुणो से हीन व्यक्ति अपने को उच्च नही समझता, वरन्, बराबर समझता है, जो उसकी शिष्टता और स्नेह भावना का द्योतक है। वसिष्ठ को निषाद दूर से प्रणाम करता है पर वसिष्ठ उसे बरवस गले लगा लेते है —

बरबस राम सखहि इमि भेंटा। जिमि महि लुठत सनेह समेटा।

'महि लुठत सनेह' समेटने से वसिष्ट की स्नेहपूर्ण तत्परता और शीघ्रता स्पष्ट होती है।

इस प्रकार तुलसी के समाज का आदर्श यह है कि प्रयेत्क व्यक्ति अपने लिए कार्य न करके सामाजिक नियम और मर्यादा-पालन के लिए कार्य करता है। जिसका परिणाम यह होता है कि समाज का आदर्श सघटन भी रहता है और व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ण प्रयत्न किये बिना ही सभी लोग, सपत्तिवान, प्रसन्न और सुखी रहते है। यह सक्षेप में तुलसी के समाजवाद के आदर्शो और परिणामो, नियमो और व्यवहारो का निर्देश हुआ। तुलसी के सामाजिक आदर्शो की समस्त कल्पना, चाहे हमे आज की परिस्थिति में पूर्ण रीति से मान्य न हो, किन्तु इतना हमे स्वीकार ही करना पडेगा कि उनके आदर्शो में आधुनिक 'समाजवाद' के बीज तत्व विद्यमान है और भारतीय प्रकृति के अनुकूल उसके सकेत और तत्व आज भी हमारे समाज-निर्माण मे अत्यधिक सहायक हो सकते है।

हिन्दी काव्य में भक्ति-भावना

हिन्दी काव्य पर आधार दृष्टिपात करने पर हमें विदित होता है कि पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य की प्रधान प्रवृत्ति भक्ति-परक है। हिन्दी के [illegible] कवियों में तुलसी, सूर आदि ने भक्ति की प्रेरणा से ही काव्य-रचना की है, उनके अतिरिक्त अन्य कवियों में भी भक्ति-भावना प्रधान रूप से काम करती है। प्रारम्भिक देवस्तुति से लेकर अन्त तक कहीं न कहीं भक्ति भावना फूट निकलती है और हम पाते [illegible] शृंगारी बिहारी की 'मेरी भव बाधा हरो', तथा वीररस के प्रधान नेता भूषण के 'विकट अपार भवपन्थ मे चले का श्रम हरन करन बिजना से ब्रज-चन्द' के साथ-साथ 'दास' ऐसे काव्यशास्त्र और नायिकाभेद पर लिखनेवाले कवियों के मुख से 'आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है" के समान भक्ति-सूचक उद्गार देखते हैं। पृथ्वीराज रासो के समय की वीर गाथाओ और रीति-कालीन शृंगारी कविताओं—सभी के अन्तर्गत भक्ति की प्रवृत्ति मिलती है। विद्यापति का शृंगार राधाकृष्ण के लिए है। देव भी 'राधा वर विरद के वारिधि' में अपने विनयोन्मुख मन को बोरने के लिए तैयार है। रीतिकालीन कवियो ने पूरी सचाई के साथ न सही—सहारे के लिए ही चाहे क्यो न हो,—भक्ति-भावना का आश्रय लिया है। नायिकाभेद तक में कृष्ण और राधा ही नायक-नायिका है। किसी भी प्रसिद्ध कवि को लें, तो हम यही पायेंगे कि उसकी रचना का अधिकाश, भक्ति-परक है। अत हम कह सकते है कि भक्ति-भावना हिन्दी काव्य की एक निजी विशेषता है। भक्ति के प्रवाह में काव्य की जो स्रोतस्विनी उमडी है, उसका काव्यात्मक लालित्य और कलात्मक सौन्दर्य भी स्वाभाविक प्रेरणा के समान ही उच्च और व्यापक है। उसके लौकिक और अलौकिक दोनो पुलिनों की हरी-भरी शोभा विश्व को रमणीयता का आदर्श प्रदान करती है। भक्ति की एक प्रमुख विशेपता अनन्य आसक्ति, है *

* देखिये—नारद भक्तिसूत्र।

भक्त के सामने उसका आराध्य उसके भगवान् के अतिरिक्त और कोई भी नहीं ठहरता; सभी तुच्छ है, सभी नीचे है। अत भक्ति की धर्म के रूप में सीमित परिभाषा को न लेकर यदि हम व्यापक दृष्टि से हिन्दी काव्य पर विचार करें तो भक्ति अनन्य आसक्ति के रूप में हिन्दी कविता की एक प्रधान प्रवृत्ति ज्ञात होती है, जिसको वह अब भी नही छोड पाई है। हिन्दी कविता में इस आसक्ति के दो स्वरूप देखने को मिलते हैं—लौकिक और अलौकिक। लौकिक आसक्ति को हम राजाओ और आश्रयदाताओ के गुणगान या सासारिक नायक-नायिकाओ के वर्णन के अन्तर्गत देख सकते है। अलौकिक अनुरक्ति या भक्ति को हम ईश्वर या ईश्वरावतारो के वर्णन, देवी-देवताओ की स्तुति, उनके भाव तथा गुणो के वर्णन के अन्तर्गत पाते है। यथार्थ में देखा जाय तो आसक्ति और तन्मयता का गुण रखनेवाली अनुरक्ति ही कविता की यथार्थ प्रेरणा है। कवि अपने विषय में तन्मय हो जाता है, तभी उसका सारा सौन्दर्य तथा उसके सम्पूर्ण गुणो को हमारे सामने लाकर रख देता है। हिन्दी काव्य में भक्ति-भावना प्रमुख है, इसका एक बडा प्रमाण यह भी है कि हिन्दी में शृगार, वीर और करुण रसो की ही प्रधानता है और हास्यादि का शोचनीय अभाव है, क्योकि पूर्वोक्त रस अनुरक्ति से सबध रखते है।

वीरगाथा और रीतिकाल की कविता अधिकाश लौकिक प्रशसा या अनुरक्ति से सम्बन्धित है, जिसके अन्तर्गत अधिकतर प्रशसात्मक काव्य आता है। वीरकाल और रीतिकाल के ग्रथो में हम इसका पूरा विवरण पाते है। इन ग्रथो का काव्य के अतिरिक्त इतिहास के दृष्टिकोण से भी बडा महत्व रहता है। पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज तथा अन्य वीरो की प्रशसा, आल्हा में आल्हा और ऊदल की अतिशयोक्तिपूर्ण वीरता के विवरणो तथा वीसलदेव रासो में विग्रहराज, शिवराजभूषण और शिवाबावनी में शिवाजी, ललित ललाम में बूँदीनरेश भाउसिंह, छत्रसाल प्रकाश में छत्रसाल, हिम्मतबहादुर विरदावली में हिम्मतबहादुर आदि के वर्णनो में लौकिक अनुरक्ति के उदाहरण मिलते है। राजाओ और वीरो को दैवी और अलौकिक पुरुषो के रूप में मानकर उनकी प्रशसा की गई है। यदि इन काव्यो की रचना की मूल प्रेरणा को देखें तो वही आसक्तिमयी रीझने की भावना है, जो कि ईश्वर या देवताओ की ओर उन्मुख न रहकर गुण और वीरतासम्पन्न राजाओ की ओर प्रवृत्त हुई है।

अलौकिक अनुरक्ति या भक्ति का स्वरूप और भी व्यापक है। सामान्यतया हिन्दी काव्य में उसके तीन स्वरूप देखने को मिलते है—प्रथम रूप की आसक्ति, द्वितीय गुण की और तृतीय गुणी रूप की भक्ति के इन तीनो

स्वरूपो मे हिन्दी काव्य का सभी सौन्दर्य निखर आया है। रूप की भक्ति के व्यापक रूप से दो पक्ष दिखलाई देते हैं। एक तो प्राकृतिक सौन्दर्य-चित्रण का और दूसरे नखशिख। ये दोनो जहाँ पर लौकिक भावनाओं को जगाते हैं वहाँ तक लौकिक अनुरक्ति के अन्तर्गत है, जैसे बारहमासा और षटऋतु वर्णन तथा नायिका भेद के उदाहरणार्थ प्रकृति वर्णन का छन्द देखिये —

"कारे लाल करहे पलासन के कुंज तिन्हें,
अपने झकोरन झुलावन लगी है री।
ताही को समेटी तृन पत्रन लपेटी धरा-धाम,
ते अकाश धूरि धावन लगी है री।
'ठाकुर' कहत सुचि सौरभ प्रकासन मैं,
आछी, भाँति रुचि उपजावनि लगी है री।
तातो सीरी बैहर वियोग वा संयोगवारी,
आवनि वसंत की जनावनि लगी है री।*

किन्तु जहाँ पर प्रकृति का वर्णन हमारे हृदय को शान्ति, आनन्द और सन्तोष से भर देता है, जिससे मन को अनेक भावनाओं की परिष्कृति होती है, वहाँ पर वह अलौकिक रूप भक्ति के उद्दीपन के अन्तर्गत ही कहा जायेगा — जैसे—गीतावली का चित्रकूट वर्णन तथा नीचे लिखे पद्य :—

" सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर ॥†

नीचे के पद्यो में प्रकृति के रूप की ओर आसक्ति का भाव प्रगट हुआ है:—

सेनापति उनये नये जलद सावन के,
चारिहु दिसान घुमरत भरे तोइ के।
सोभा सरसाने न बखाने जात काहू भाँति,
आने है पहार मानो काजर के ढोइ के।
घन सो गगन छयो, तिमिर सघन भयो,
देखि न परत गयो मानो रवि खोइ के।

---

* हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५२।
† विहारी रत्नाकर दोहा ६८१।

चारि मास भरि घोर निसा को भरम मानि,
मोरे जानि याही ते रहत हरि सोइ कै ॥*

इसी प्रकार —

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति,
सेनापति को सुहाति सुखी जीवन के गन है।
फूले है कुमुद फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानों मोती अनगन है।
उदित विमल चन्द चाँदनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध उरध गगन है।
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीरसागर मगन है॥†

हिन्दी में स्वच्छन्द रूप से प्रकृति-वर्णन अधिक नही हुआ है, फिर भी जो कुछ है उसमें सौन्दर्य वर्णन मनोहारी है।

इस रूप-भक्ति का दूसरा पक्ष नखशिख-वर्णन में स्पष्ट होता है। प्रकृति-वर्णन के उपरान्त यह मानव-स्वरूप का वर्णन है, जिस पर सौन्दर्य या रूप का उपासक रीझता है। हिन्दी काव्य के प्रारम्भ से ही नखशिख-वर्णन कविता का प्रमुख अग रहा है और सदा रहेगा। वर्तमान हिन्दी काव्य में भी पूरा चित्र खीचने के लिए नखशिख-वर्णन आवश्यक है। शिर से लेकर पैर तक के अगो और आभूषणो का सौदर्य-वर्णन इसके अन्तर्गत आ जाता है। रीतिकाल मे नखशिख-वर्णन का प्रधान स्थान रहा, किन्तु इसमें नायिकाओ का वर्णन था अत यह लौकिक रूप-वर्णन के अन्तर्गत आता है। जैसे कि मतिराम का नीचे लिखा नायिका-वर्णन—

" कुंदन को रँग फीको लगै, झलकै अस अगन चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि मैं, मजु बिलासन की सधुराई।
को बिन मोल बिकात नही, मतिराम लखे अँखियान लुनाई।
ज्यों ज्यो निहारिए नीरे ह्वै नैननि त्यों त्यो खरी निकसै ह्वै निकाई।"‡

किन्तु जहाँ पर वर्णन आराध्य देव के रूप में होता है जिसका व्यक्तित्व

---

* सेनापति का कवित्त रत्नाकर

† " " "

‡ मतिराम का रसराज, ६

[illegible] हैं, [illegible] के [illegible] है। [illegible] और [illegible] राम और सीता के नखशिख-वर्णन से [illegible] है— [illegible] में बसनेवाला कृष्ण का रूप देखिये —

'सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
इहि बानक मो मन, बसौ सदा बिहारीलाल॥"

इसी प्रकार —

"जटा मुकुट सिर [illegible], नख [illegible]।
चितवनि बसति [illegible], प्रेमिन्ह [illegible]।"

तुलसी के द्वारा राम और सीता का नखशिख रामचरितमानस, गीतावली, विनयपत्रिका आदि ग्रंथों में [illegible] मनोग्राही है। अष्टछाप के भक्त कवियों ने कृष्ण और राधा [illegible] नखशिख वर्णन किये हैं। कृष्णदास लिखते हैं—

'मो मन गिरधर छवि पै अटक्यो'
ललित त्रिभंग चाल पै चलि कै, चिबुक चारु गडि ठटक्यो।
सजल स्याम घन बरन लीन ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किये प्रान निछावरि, यह तन जग सिर पटक्यो॥"

सूर कृष्ण की बाल छवि का वर्णन करते हैं —

"हरि जू की बाल छवि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज सोभाहरनि।
भुज भुजग सरोज नयननि बदन बिधु जित्यो लरनि॥
रहे बिवरनि सलिल नभ उपमा अपर दुरी डरनि।
मजु मेचक मृदुल छवि अनुहरति भूषन-भरनि।
मनो सुभग सिंगार सिसु तरु फरयो अद्भुत फरनि।
लसत कर प्रतिबिम्ब मनि आगन घुटुरुवन चरनि।
जलज सपुट सुभग छवि भरि लेत उर जनु धरनि॥
पुण्य फल अनुभवति सुतहिं बिलोकि कै नँदघरनि॥
सूर प्रभु की बसी उर किलकनि ललित लरखरनि॥"

इसी भाँति हितहरिवंश का राधा की नखशिख छवि का वर्णन देखिये —

'व्रज नव तरुनि कदंब मुकटमनि श्यामा आजु बनी।
नखशिख लौं अँग-अग माधुरी मोहे स्याम धनी।
यों राजत कबरी गूथित कच कनक-कंज बदनी।
चिकुर चंद्रिकन बीच अधर बिधु मानो ग्रसित फनी।"

सोभग रस सिर स्रवत पनारी विच सीमत ठनी।
भ्रकुटि स्याम कोदंड, नैन सर, कज्जल रेख ग्रनी।
भाल तिलक ताटक गंड पर, नासा जलज मनी।
दसन कुंद सरसाधर पल्लव पीतम मन समनी।
हित हरिवस प्रससित स्यामा कीरति विसद घनी।
गावत श्रवननि सुनत सुखाकर, विश्व दुरित दवनी।।"

इस प्रकार के वर्णन हिन्दी काव्य में प्रचुरमात्रा में विद्यमान हैं और उनमें छविवर्णन तथा रूप-भक्ति की भावना देखने में मिलती है, किन्तु एक बात जो इन वर्णनों में खटकती है वह है वर्णन के लिए आये उपमानों का परम्परागत प्रयोग। उन्ही प्रसिद्ध उपमानो के साथ बार-बार वर्णन में वस्तु का सौन्दर्य घट जाता है। आँखो का कमल, खजन, मीन से, भौंहो का धनुष से, नाक का शुक की चोच से, ग्रीवा का हस, शख या मोर की ग्रीवा से बार-बार सादृश्य दिखाना वर्णन को निर्जीव कर देता है। फिर भी नखशिख छवि की परम्परा दृढ मूलवाली बनी रही।

यथार्थ में रूप भक्ति के अन्तर्गत लौकिक और अलौकिक का भेद कोई विशेष विभिन्नता उपस्थित नही कर सका, क्योंकि देवता या अवतार का रूप-वर्णन भी मानवाकार में हा किया गया। अत धीरे-धीरे राधा और कृष्ण को लेकर सामान्य नायिकाओं एव नायको की नखशिख-छवि का वर्णन हुआ। परन्तु अलौकिक भक्ति-भावना के अन्य दो स्वरूपो अर्थात् गुण की भक्ति एव सगुण रूपकी भक्ति में भक्ति की धार्मिक भावना ही विशुद्ध रूप में व्याप्त रही। उनमें शुद्ध भक्ति-भावना ही ओतप्रोत है। निर्गुण उपासको में गुणो की भक्ति के अन्तर्गत आकार की सत्ता नही मानी गई। निर्गुण उपासना के अन्तर्गत निराकारता विशेष रूप से है निर्गुणत्व नही है। वहाँ निर्गुण का तात्पर्य केवल यही जान पड़ता है कि परमात्मा प्रकृति के गुणो से बद्ध नही है। वह प्रकृति के तीन गुण सत, रज और तम से परे है, किन्तु गुणो के प्रचलित अर्थ में वह गुणो का भंडार है और उन्हीं अलौकिक गुणो वाले की भक्ति ही अलौकिक गुण की भक्ति के अन्तर्गत है। इससे भक्त ऐसे परमात्मा का, जो ससार की सभी बातो से परे है, गुणगान करता है और अपनी आत्मा को उसी अलौकिक और असीम शक्तिवाले परमात्मा से सम्बन्धित अनुभव कर अपनी अलौकिकता की ओर भी सचेत रहता है। वह अनतगुणो वाला और असीम शक्ति-वाला है। इसलिए हमारी कल्पना या भावना किसी भी आकार या भाव में

गुणो का समावेश आवश्यक हो जाता है क्योकि भक्ति के अन्तर्गत आसक्ति, लगाव और तन्मयता की भावना प्रधान होती है और इनके टिकने के हेतु—आधार और ठहराव के लिए—गुणो या रूप का आलम्बन होना आवश्यक है। हिन्दी कविता पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि निर्गुण कहे जानेवाले भक्तो के भगवान् निर्गुण नही सगुण ही है, निराकार चाहे वे भले ही हो। अतः ये कवि निराकार और अरूप गुणो के उपासक है। हिन्दी काव्य के अन्तर्गत इस भावना ने भी प्रचुर विकास पाया है। कबीर, दादू, नानक, रैदास, पलटू, धना, पीपा, आदि सन्त इसी प्रकार की रचना करनेवाले कवि थे। उनकी उपासना परमात्मा के उस भाव के प्रति है जो कि अवर्णनीय और गुणातीत है। गुणहीन नही, वरन् है तो वह गणो का भंडार, पर जो प्राकृतिक गुणो के बधन में नही बाँधा जा सकता। अतः हम उसे अलौकिक गुणोवाला कह कर इसे अलौकिक गुणो की भक्ति कह सकते है।

निर्गुणोपासक सन्त कवियो का प्रयत्न दो प्रकार का है। जब वे अपने परमात्मा का वर्णन करते है तब तो वे उसे गुणातीत बताते है और वे निर्गुणवादी है, किन्तु जब वे अपने को उससे सम्बन्धित करते है—उसका भक्त मानते है, तब वे उसके अनेक गुणो का वर्णन करते है। यथार्थ में उनकी वाणी काव्य वही है, जहाँ वे भक्त है। अत. वे केवल गुणो के भक्त है—आकारहीन, रूपहीन गुणो के भक्त—और अलौकिक गुणोवाले की उपासना करते है। उस अरूप एव आकारहीन के कुछ गुणो का वर्णन देखिये .—

"साहेब सो सब होत है, बन्दे से कछु नाहिं।
राई ते पर्वत करै, पर्वत राई माहिं।
जाको राखै साइयाँ, मारि न सकिहै कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय ॥ *

ऊपर की पक्तियो में परमात्मा की 'सर्वशक्तिमत्ता' का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार उनके सर्वान्तिर्यामी कोरूप देखिये। नानक कहते है —

काहे रे बन खोजन जाई।
सर्व निवासी सदा अलेपा तोही सग सदाई।
पुष्प मध्य ज्यो बास बसत है मुकुर मध्य जस छाई।
तैसे ही हरि बसै निरन्तर घट ही खोजो भाई।

---

* [illegible]

बाहर भीतर एकै जानौ यह गुरु ज्ञान बताई।
जन'नानक' बिन आपा चीन्हें मिटै न भ्रम की काई। *

दादू का वर्णन भी उस निराकार परमात्मा के गुणो का दिग्दर्शन कराता है, उसकी सर्व व्यापकता नीचे के दोहो में प्रकट हुई है —

घीव दूध में रमि रहा, व्यापक सब ही ठौर।
'दादू' बकता बहुत है, मथि काढ़ै ते और॥
'दादू' देख दयाल को सकल रहा भरपूर।
रोम रोम में रमि रह्यौ, तू जिन जानै दूर॥†

इसी भाँति रैदास उस निराकार परमात्मा के अनेक गुणो का वर्णन नीचे लिखे ढग से करते है —

"प्रभु जी तुम चंदन हम पानी। जाकी अँग अँग बास समानी।
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा। जैसे चितवत चंद चकोरा।
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती। जाकी ज्योति जरै दिन राती।
प्रभु जी तुम मोती हम धागा। जैसे सोनहि मिलत सोहागा।
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भक्ति करै रैदासा।" ‡

इसके अन्तर्गत व्यापकता, सुगन्धि, सरसता, तेज, आकर्षण, अधिकार आदि अनेक गुणोवाले परमात्मा से भक्त यथोचित रूप मे अपना सबन्ध स्थापित करना चाहता है। जब साधक भक्ति के आवेश में है, तब उसका आराध्य गुणो से युक्त है, वे गुण जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, चाहे लौकिक न हो, किन्तु बिना गुणो के आरोप के भक्ति नही हो सकती हैं। निर्गुण सन्तो में भक्ति-भावना की मात्रा उतनी ही है जितनी कि परमात्मा को गुणयुक्त मानकर उससे अपना हृदय का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आवश्यक है। हृदय के रीझने के लिए रूप या गुण दो में से एक अवश्य चाहिए। वरन् यथार्थता तो यह है कि दोनो ही चाहिए। कबीर 'शून्य मडल' में परमात्मा की सत्ता का आभास पाते है, जिसका तात्पर्य दोहरा है। प्रथम तो यह कि वह गुणो से शून्य है, आकार से रहित है और दूसरे यह कि वहाँ पर अपना भी प्रवेश गुण इच्छाशून्य होकर ही हो सकता है। साधना-पक्ष के लिए यह ठीक है। परन्तु आनद की अवस्था में वे उस शून्यमण्डल में मधुर ध्वनि

---

* कविता कौमुदी, भाग १
† कविताकौमुदी, भाग १
‡ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १०५

सुनते है और ज्योति के दर्शन करते है। यह भक्त का स्वरूप है, जो गुणों का आधार लेकर ही चलता है —

> "सुन्य मडल मन सुरति ते, प्रकट भई एक ज्योति।
> बलिहारी ता पुरुष छवि निरालव जो होति ॥"
> गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर गँभीर।
> चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर।

इसी प्रकार —

> 'सुन्य मडल में घर किया, बाजै सबद रसाल।
> रोम रोम दीपक भया, प्रगटे दीनदयाल ॥" *

इसी प्रकार जब भक्त दयालु और प्रेम से रीझनेवाले भगवान् को आत्म-समर्पण करता है तब भी परमात्मा को अनेक गुणो से युक्त मानता है। इसके साथ ही साथ निर्गुण साधक अनेक प्रकार के गुणो जैसे,समभाव,अनन्यता, विरह, प्रेम, सच्चाई, विश्वास, ज्ञान, दया आदि को प्राप्त करता है और इस प्रकार धीरे-धीरे परमात्मा का सान्निध्य लाभ करता है। ये गुण स्वय परमात्मा के है, अत उसके पास जाने के लिए उसके समान ही होना आवश्यक है। इस प्रकार इस निर्गुण धारा के काव्य में रूप और आकारहीन गुणो की ही भक्ति है। यह भी हिन्दी काव्य का एक प्रधान अग बन गई और आधुनिक काल की भक्तिपद्धति या ईश्वरप्रेम कुछ-कुछ निर्गुण उपासको की भक्ति और प्रेम के समान ही है, जो आज कल की रहस्यवादी कविता के रूप में व्यक्त हुए है।

तीसरी साकार गुण की भक्ति, काव्य और भक्ति दोनो की दृष्टि से पूर्ण है। इसका विकास हिन्दी की सगुण काव्यधारा के अन्तर्गत हुआ है। निर्गुण भक्तो की भाँति इन्होने भी परमात्मा को सर्व शक्तिमान, सर्वगुण—सम्पन्न माना है और यह भी स्वीकृत किया है कि उसका वर्णन करना सम्भव नही है, किन्तु उनका विश्वास यह है कि परमात्मा भी जो सत्‌चित्‌आनन्द-मय है अवतार धारण कर विशेष आकार ग्रहण करता है। इसका उद्देश्य भक्तो को आश्रय देना और उनके विश्वास को सुदृढ करना होता है। तुलसी-दास राम को निर्गुण ब्रह्म मानते है, किन्तु वही निर्गुण राम अवतार ही लेते है —

---

* कबीर वचनावली, पृष्ठ ७ साखी ६२
कबीर, (हजारीप्रसाद) पृष्ठ ३२४, पद २२३-२

"अगुनहि सगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन अरूप, अलख अज जोई। भगत प्रेमवस सगुन सो होई।"

और

'जो गुनरहित सगुन सोई कैसे। जलु हिम उपल विलग नहिं जैसे॥
अगुन अरूप अमान एक रस। राम सगुन भये भगत प्रम वस॥*

अवतार, भक्त के सन्तोष के लिए होता है और यह परमात्मा के लिए एक लीला है। जैसे सृष्टि की रचना भी उसके लिए एक लीला है, वैसे ही अवतार लेना भी। परमात्मा का प्रत्येक अवतारी रूप किन्ही ऐसे गुणो से विशेष रूप से सम्पन्न होता है जो कि भक्तो को अपनी ओर खीचते है। यद्यपि परमात्मा के अनेक अवतार माने गये है, परन्तु उनमें से दो—राम और कृष्ण—को ही हिन्दी के कवियो ने अपनी भक्ति का विषय बनाया है, राम अलौकिक शक्ति, अलौकिक सौदर्य, मधुर स्वभाव, न्यायप्रियता, कर्तव्यशीलता आदि गुणो से सम्पन्न है अर्थात् उनके पास शारीरिक और चारित्रिक सौदर्य तथा शक्ति दोनो विद्यमान है, किन्तु, कृष्ण के प्रति भक्तो की धारणा कुछ दूसरी है। राम, मर्यादा पुरुषोत्तम है, आदर्शपुरुष है, पर कृष्ण के चरित्र को यथार्थ रूप में समझना कठिन है। कृष्ण अलौकिक सौदर्यमय है और उनका सौदर्य सबको प्रभावित करता है, किन्तु कृष्ण सर्वदा आनन्दमय है। उनमें अवतार रूप में भी अलौकिकता है। वह सामाजिक बन्धनो से परे है। सामाजिक नियमो के विचार से वह समाज के दोषी है। वह सदैव आनन्द-क्रीडाओ में सलग्न रहते है किन्तु वह अत्याचारियो, आततायियो को दड देते है और भक्तो के लिए भगवान् है। ईश्वर की अलौकिकता के साथ-साथ मनुष्य के रूप में उनका अवतार है। राम और कृष्ण की भावना ने हिन्दी काव्य को बहुत अधिक समृद्ध बनाया है और इस प्रकार सगुण रूप का भक्ति-सम्बन्धी काव्य हिन्दी का सर्वोत्कृष्ट काव्य है।

इसका कारण है। सौदर्य या रूप और गुण कविता की मूलभूत प्रेरणाएँ है। कवि, रूप और गुणो की ओर आकृष्ट होता है और उसकी तन्मयावस्था में काव्य का सुमधुर रूप निखरता है। इस धारा में काव्य की दोनो प्रधान प्रवृत्तियाँ आ जाती है। इसके अन्तर्गत सुन्दरतम भाव सुन्दरतम रूप पा सके है, क्योकि सुन्दरतम गुणो की सुन्दरतम रूप में उपासना इसका ध्येय है। इन सगुण रूप के उपासक भक्तो ने भी केवल रूप का वर्णन बहुत अधिक किया है। किन्तु उनके अधिकाश वर्णन के पीछे अपने उपास्य के गुणो का आधार गुप्त रहता है।

---

* रामचरित मानस

अत यह केवल वाह्य सौन्दर्य और शारीरिक रूप पर मोहनेवाले लोगों पर भी प्रभाव डालते हैं। वे अनुभव करते है कि यह आसक्ति एक विशेष प्रकार की है और लौकिक रूपासक्ति से भिन्नता रखती है। तुलसीदास ने इस प्रकार के रूप का प्रभाव अपनी रचनाओ में खूब दिखाया है। उदाहरणार्थ गीतावली के नीचे लिखे पद में देखिये—राम, सीता और लक्ष्मण वन को जाते हुए पथ के ग्रामनिवासियो पर क्या जादू डालते है, एक के मुँह से सुनिये —

"नीके कै मै न विलोकन पाये।
सखि यहि मग जुग पथिक मनोहर वधु विधुवदनि समेत सिधाये।
नयन सरोज किसोर वयस वर सीस जटा रचि मुकुट वनाये।
कटि मुनि वसन तून धनु सर कर, स्यामल गौर सुभाय सुहाये।
सुन्दर वदन विसाल बाहु उर, तन छवि कोटि मनोज लजाये।
चितवत मोहि लगी चौंधी सी जानौं, न, कौन कहाँ ते आये।
मनु गयो संग, सोचवस लोचन, मोचत वारि, कितौ समुझाये।
तुलसिदास लालसा दरस की, सोइ पुरवै जेहि आनि दिखाये।"*

जिन लोगो के ये उद्‌गार है, वे स्त्री और पुरुष प्रौढावस्था के है और विवाहित है अत उनका यह मोह, रूप की अलौकिकता की ओर सकेत करता है। उनके लिए यह एक स्वप्न सा था। वे उनके चले जाने पर भी दुखी होते है और एक वार और दर्शन करने के लिए लालायित है। यह अलौकिक गुणसम्पन्न राम का वर्णन है जो इस रूप के जादू के मूल में काम करता है। तुलसी अपने नखशिख-रूपवर्णन के साथ-साथ गुण या शक्ति का आभास देना नही भूलते। राम की वालछवि का वर्णन शुद्ध रूपवर्णन है, फिर भी उसके पहले वे सचेत करते है। जिससे उनकी सगुण भक्ति और अवतार पर आस्था प्रकट होती है .—

"व्यापक, व्रह्म, निरंजन, निर्गुन विगत विनोद।
जो अज प्रेम भगति वस, कौसल्या की गोद॥"

(१९८ वालकाड)

इसके पश्चात् वे शारीरिक छवि का वर्णन करते है :—

"काम कोटि छवि स्याम सरीरा। नीलकठ वारिद गंभीरा॥
अरुन चरन पकज नख ज्योती। कमल दलन्हि वैठे जनु मोती॥
रेख कुलिस, ध्वज अकुस सोहैं। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहैं॥

* गीतावली—अयो० ३५

कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गँभीर जान जेहि देखा ।।
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी। हिय हरिनख अति सोभा रूरी ।।
उर मनिहार पदिक की सोभा। विप्रचरन देखत मन लोभा ।।
कंबुकंठ अति चिबुक सोहाई। आनन अमित मदन छवि छाई ।।
दुइ-दुइ दसन अधर . अरुनारे। नासा तिलक को बरनै पारे ।।
सुदर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ।।
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। वहु प्रकार रचि मातु सँवारे।
पीत झँगुलिया तन पहिराई। जानु पानि बिचरनि मोहि भाई ।।" *

यहाँ तक तो कोरा रूपवर्णन है, किन्तु इसी को अलौकिकता के आवरण और असीम गुणों से अनुप्राणित कर देते हैं :—

"रूप सकहिं नहि कहि श्रुति-सेषा। सो जानहि सपनेहुँ जेहि देखा।"

कृष्ण के रूप-वर्णन में भी यही बात है। रूप-वर्णन के अन्त में यद्यपि भक्ति की समर्पण-भावना कृष्ण-भक्तों की कविता में बराबर आती है; किन्तु राम की भाँति वह चारित्रिक आदर्श के बल पर नहीं। कृष्ण के रूप-सौन्दर्य की अलौकिकता और भी अधिक है। उनके सामाजिक मर्यादा के विपरीत आचरण करते रहने पर भी गोकुल के नर-नारी उनके सौन्दर्य पर मुग्ध हैं। इसका कारण एक तो अलौकिक रूप-सौन्दर्य का प्रभाव है, दूसरे उनके आलौकिक शक्ति और सौन्दर्य भरे कार्य हैं। कृष्ण के एक-एक कार्य चाहे समाज के लिए आदर्श भले ही न बन पावें, परन्तु, वे सबके मोहनेवाले अवश्य है। वे राम की भाँति अनुकरणीय चरित्रवाले नही है पर, वे विशिष्ट व्यक्तित्व वाले अवश्य है उनका एक-एक कार्य विलक्षण है और जादू का सा असर डालता है। इस अलौकिकता के गुण के साथ वह रूप है जिसके वर्णन की सामर्थ्य किसी की भी नही है, यही कृष्ण की अगाध भक्ति का रहस्य है। कृष्ण का सौन्दर्यमय छवियुक्त व्यक्तित्व इतना मनोहारी हुआ कि भक्ति-काल के वाद रीति-काल में भी उनको काव्य का आलम्बन बनाया गया। और राधकृष्ण भक्ति के छन्द शृंगारी कवियो ने भी लिखे है :—

"मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे, स्याम हरित द्युति होय ।।" †

कविवर देव, कृष्ण की स्तुति करते हैं :—

---

* रामचरित मानस—वालकाण्ड

† बिहारी रत्नाकर—१

"पायन नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिन की धुनि की मधुराई।
सांवरे अंग लसैं पट पीत, हिये हुलसैं बनमाल सुहाई।
माथे किरीट बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुखचंद जुन्हाई।
जै जग मन्दिर दीपक सुन्दर, श्री व्रजदूलह देव सहाई ॥" *

विनय के पदों में सूर और तुलसी दोनों ने गुणों का ही वर्णन किया है और उस गुणों के भंडार की ओर अपने मन को प्रेरित किया है। कृष्ण के रूप और गुणों को व्रज के लोग उनके बालपन से ही जानते हैं। अतः उनको एक शिशु रूप से खिलाने, मन बहलाने में भी भक्ति का भाव ही प्रधान है। कृष्ण को भली-भाँति देखकर उन्हें अपनी गोद में लेकर अपने को कृतार्थ करने-वाली एक गोपी का कथन देखिये :—

"नेकु गोपालहिं मोकों दै री।
देखौं कमल बदन नीके करि ता पाछे तू कनिया लै री।
अति कोमल कर चरन सरोरुह अधर दसन नासा सोहै री।
लटकन सीस कंठमणि भ्राजत मन्मथ कोटि वारनै गै री।
वासर निसा विचारति हौं सखि, यह सुख कबहुँ न पायो मैं री।
निगमन धन सनकादिक सरवसु, बड़े भाग पायो है तैं री ॥
जाको रूप जगत के लोचन कोटि चद्ररवि लाजत भैरी।
सूरदास बलि जाउँ यशोदा गोपिन प्राण पूतना बैरी ॥" †

कृष्ण सुन्दरता और आनन्द के समुद्र हैं, इसी को लेकर कृष्णभक्ति काव्य का विकास हुआ है। कृष्ण साधारण रूप और शक्ति से युक्त नहीं हैं वे 'निगमन धन' हैं और उनके तेज के एक अंश से करोड़ों सूर्य-चंद्र शोभित और प्रकाशित हैं।

तुलसी के चित्रण में गुणों की ओर और अधिक व्यापक संकेत हैं और सूर की भाँति केवल रूपमय परमात्मा का ही वर्णन नहीं वरन् सर्वगुणसम्पन्न छवि-शील के आगार राम का वर्णन है। जहाँ भी कहीं राम का वर्णन है उसी उच्चस्तर पर है, जैसा कि एक ओर परमात्मा के लिए और दूसरी ओर मर्यादा पुरुषोत्तम, आदर्श स्थापना करनेवाले व्यक्ति के लिए उपयुक्त है। राम के मनोहारी रूप, असीम छवि, हृदय को लुभा लेनेवाले शील-स्वभाव और अपरिमित शक्ति के द्वारा तुलसी ने इनका पूर्ण मानव के अनुकूल चित्र खींच कर

---

* देव ग्रन्थावली

† सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० १३४, पद ४७।

भी उन्हें ईश्वर का अवतार ही नहीं, पूर्णब्रह्म घोषित किया है। राम अलौकिक शक्तिसम्पन्न हैं, पर उनके कृत्य सभी मानव-सुलभ है। राम एक आज्ञाकारी पुत्र, विनम्र और शीलवान शिष्य, क्षमा स्नेहयुक्त भाई, सच्चे मित्र, सयमी पति और वीर हैं। वे मनुष्यता की रक्षा और राक्षसत्व का नाश कर देवत्व का उद्धार करते हैं, जिन्हे-मारते भी हैं उनकी आत्मा का कल्याण करते हैं। इस प्रकार राम में मनुष्य का आदर्श पूर्ण हैं। फिर भी विभिन्न व्यक्ति अपनी भावना के अनुसार उन्हें विभिन्न स्वरूपो में ही देखते हैं। जब राम-लक्ष्मण जनकपुर के स्वयवर-मडप में प्रवेश करते हैं उस समय का वर्णन देखिये.—

"राजकुँवर तेहि अवसर आये। मनहुँ मनोहरता तन छाये।
गुन सागर नागर वर वीरा। सुन्दर श्यामल गौर सरीरा।
जिन्हकै रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी।
देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहुँ वीर रस धरे सरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी।
सहित विदेह विलोकहि रानी। सिसु सम प्रीति न जाय बखानी।
जोगिन्ह परम तत्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा।
हरि भक्तन देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता।
रामहिं चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया।
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कवि कोऊ।
रहे असुर छल छोनिप वेषा। तिन्ह प्रभु प्रकट काल सम देखा।
पुरवासिन्ह देखे दोउ भ्राता। नर भूषन लोचन सुखदाता।
नारि विलोकहिं हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप।।" †

इस वर्णन में तुलसी ने अपनी राम-सम्बन्धी धारणा उपस्थित की है। वे अधिकाश व्यक्तियो के लिए तो मनुष्य के रूप में हैं, किन्तु कुछ तत्वज्ञो के लिए परमतत्व के रूप में। सीता का अनुभव अवर्णनीय है, क्योकि और सभी की धारणा तक तो मनुष्य होने के नाते तुलसी की पहुँच है, पर सीता स्वय राम की शक्ति है, अत मनुष्य का उनकी अनुभूति तक पहुँचना सम्भव नही।

राम का वर्णन इस प्रकार सर्वगुण सम्पन्न तत्व के रूप में करने के उपरान्त, ईश्वरीय स्वरूप का विश्लेषण करने के अनन्तर वे राम का वर्णन उस अवसर के अनुकूल करते है और इसमें उनकी नख-शिख छवि का वर्णन है .—

† रामचरितमानस—बालकाण्ड, २४१

सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ।
सरद चंद निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जी के।
कल कपोल श्रुति कुंडल लोला। चिबुक अधर सुन्दर मृदु बोला।"

......इत्यादि।

रूप के सौन्दर्य के साथ-साथ शील और स्वभाव का सौन्दर्य-चित्रण तुलसी के वर्णन को पूर्णता प्रदान करता है और इस प्रकार प्रतिष्ठित राम का आदर्श शाश्वत रूप में मानवता का आदर्श बना रहेगा। स्वभाव का वर्णन देखिये —

"सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ।
सिसुपन ते पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम विधुवदन रिसौहैं सपनेहु लखेउ न काउ॥"

......इत्यादि—

तुलसी का सीता का वर्णन भी उसी भावना के साथ है। वह भी अलौकिक गुण और रूप—सम्पन्न है और इस वर्णन में वे सूर की राधा से भिन्न हैं। सीता, एक देवी और राम की शक्ति के रूप में चित्रित है, अत उनके प्रति बडी उच्च भावना व श्रद्धा बटोर कर तुलसी कहते हैं —

"सिय सोभा नहिं जाय बखानी। जगदम्बिका रूप गुण खानी।
उपमा सकल मोहिं लघु लागी। प्राकृत नारि अंग अनुरागी।"

इसमें ही अलौकिकता का समावेश है। तुलसी का विचार है कि स्त्री, स्त्री के रूप को देखकर नही मोहती (मोह न नारि नारि के रूपा), किन्तु यहाँ पर साधारण स्त्रियाँ सीता के रूप को देख कर मोह गई। इससे स्पष्ट है कि सीता का सौन्दर्य लौकिक नही, स्वर्गीय है। तुलसी सीता के सौन्दर्य का केवल सांकेतिक वर्णन ही करते है —

"सोह नवल तन सुन्दर सारी। जगत जननि अतुलित छवि भारी।
भूषन सकल सुदेश सुहाये। अंग अंग रचि सखिन्ह बनाये।

किन्तु इसी के साथ अवर्णनीय सौन्दर्य का आभास देते हुए वे कहते हैं :—

"सुन्दरता नहिं जाय बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।"

इस शारीरिक छवि के सांकेतिक वर्णन के साथ तुलसी सीता के शील-सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। यह वर्णन सीता के अलौकिक और काल्पनिक रूप में प्राण-सा फूंकता है और हमारे सामने उनका सजीव गुणसम्पन्न रूप उपस्थित होता है। स्वयंवर के समय में उनका वर्णन देखिये —

"गुरुजन लाज समाज बड़ि, देखि सीय सकुचानि।
लगी विलोकन सखिन्ह तन, रघुवीरहिं उर आनि॥"

सीता के अन्तर्गत शालीनता और लज्जा का भाव बहुत ही मनोहारी है। जिसका वर्णन तुलसी ने स्थान-स्थान पर किया है। अयोध्या से राम के वन जाते समय तुलसी ने सीता की सकोच भरी लज्जा का वर्णन इन शब्दो में किया है —

"चारु चरन नख लेखति धरनी। नूपुर मुखर मधुर छबि बरनो।
मनहु प्रेम बस बिनती करही। हमहिं सीय पग जनि परिहरहीं॥"

इसी प्रकार पथ की ग्रामवासिनी स्त्रियो के सीता से राम का परिचय पूछने पर वे लिखते है :—

"तिनहिं विलोकि विलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचत वर वरनी।
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर वचन पिकवयनी।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे।
बहुरि बदन विधु अचल ढाँकी। प्रभु तन चितै भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति तिन्हहिं कहेउ सिय सैननि॥"

इस प्रकार शुभ गुणो से युक्त अप्रतिम रूपवाली सीता का वर्णन तुलसी ने किया है। तुलसी का उद्देश्य ही परमात्मा का ही गुणगान था। प्राकृत जनो के वर्णन में लेखनी चलाना वे वाणी का अपमान समझते थे। तुलसी का काव्य राम और सीता की भक्ति में सराबोर है और राम-सीता असीम गुणवान और अलौकिक सौन्दर्यशाली है। उनके शारीरिक और चारित्रिक सौन्दर्य ने ही तुलसी के हृदय में काव्य का प्रवाह सा लहरा दिया। उनके काव्य ने हमारे सम्मुख एक सगुण रूप उपस्थित किया, जिसकी भक्ति ने हृदयो को परम सन्तोष प्रदान किया। गुणयुक्त रूप की भक्ति के पूर्ण उदाहरण तुलसी के काव्य के समान अन्यत्र मिलना अन्यत्र दुर्लभ है। किन्तु यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि भक्ति-भावना पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य की अधिकाश प्रमुख-प्रेरक भावना रही है।

भक्तिरस

हिन्दी के भक्तिभावना-सम्बन्धी काव्य के अध्ययन से हम एक महत्व-पूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते है, जो कि रस-विषयक धारणा को विकास देता है। प्राचीन सस्कृत के आचार्यों ने नव रस और तेंतीस सचारी भाव माने है और यह धारणा जो भरत मुनि से प्रारम्भ होती है, लगभग सभी परवर्ती आचार्यो-द्वारा सम्मानित हुई है। हाँ, यह अवश्य है कि कुछ आचार्यो ने एक रस को प्रधानता दी है और कुछ ने दूसरे रस को। कुछ लोग शृगार रस को सर्वप्रधान रस मानते

है, तो दूसरे करुण को। भवभूति करुण रस की व्यापकता और प्रभाव को लक्ष्य करके ही कहते है "एकोरसः करुण एव निमित्त भेदात्"। किन्तु शृगार की व्यापकता हिन्दी के आचार्यो-द्वारा भी पूर्ण मान्य हुई है। रीति काल में तो शृगार को ही रसराज मानकर उसका वर्णन प्रचुर मात्रा में किया गया है और उसके सर्वव्यापक प्रभाव के कारण अन्य रसो को गौण समझा गया है। शृगार के रसराजत्व की प्रतिष्ठा सस्कृत में है और उसी का ही अनुगमन हिन्दी में किया गया है। यदि हम हिन्दी की कविता पर स्वच्छन्दतापूर्वक विचार करते है तो रसो की प्राचीन प्रतिष्ठित धारणा को कुछ परिवर्तित अथवा विकसित करना पडता है। यह कहना भी अनुचित नही जान पडता कि हिन्दी काव्य में अधिकाँश शात और शृगार रसो का ही विस्तार है। इसके पश्चात् वीररस पर और उससे भी कम हास्य, भयानक, वीभत्स आदि पर लिखा गया है। करुण रस पर भी अधिक नही लिखा गया। वीररस पर वीरगाथा काल में भी तथा भूषण, लाल पद्माकर आदि के द्वारा पर्याप्त मात्रा में काव्य रचना हुई है, किन्तु सबसे अधिक भाग शृगार और शान्त रस पर ही है।

शृगार और शात के ही विकसित रूपो के अन्तर्गत भक्तिभाव सम्बन्धी काव्य का प्रवाह उमडा है। भक्त कवियो के काव्य में शृगार के स्थायी भाव का, रति की धारणा में विकास लक्षित होता है। हम यदि एक, भाव प्रेम मान लें तो उसके तीन भेद स्पष्ट दीखते है—प्रथम तो पति-पत्नी का प्रेम, द्वितीय, माता-पुत्र का प्रेम और तृतीय आराध्य-आराधक का प्रेम। अन्तिम को भक्ति के अन्तर्गत रख सकते है। सस्कृत में अन्तिम दोनो को भावो के अन्तर्गत रखा है, क्योकि इन भावो को विशेष व्यापक रूप काव्य में नही मिल सका। सस्कृत में जो भी भक्ति सम्बन्धी काव्य है वह बडी सुगमता के साथ शातरस के अन्तर्गत रखा जा सकता है, क्योकि वह अधिकाश विनय और स्तोत्रो के रूप में है।

किन्तु हिन्दी काव्य के अन्तर्गत दोनो भेदो का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है और देवता-विषयक प्रेम या ईश्वर-विषयक प्रेम से तो भक्ति काव्य भरा ही है। अत हम इस विस्तृत प्रवाह को भाव के अन्तर्गत सीमित न रख कर रस के अन्तर्गत रखना न्यायसगत समझते है। भक्ति काव्य के अन्तर्गत भक्त के भगवान् के प्रति प्रेम के विविध रूपो का विस्तृत और गभीर वर्णन है। उसके अनेक अनुभवो का, अनेक अवस्थाओ का और अनेक चेष्टाओ का जो वर्णन है वह भक्तिरस को पूर्ण बनाता है। इसको न तो हम शात के अन्तर्गत रख सकते है न शृगार के ही अन्तर्गत, क्योकि वह दोनो से भिन्न है

और साथ-साथ ही इसको भाव भी नही कह सकते। इस काव्य का पारायण करते समय जो भाव बनता है वह भक्ति भाव ही है जो स्थायी भाव है और अन्य भावो से भिन्न है। अतः इसका विवेचन अन्य रसो से अलग किया जा सकता है।

कुछ विद्वानो ने इस भक्ति रस को पाँच भेदो में विभक्त किया है* वे पाँच भेद हैः—शात, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। ये पाँचो कभी-कभी तो पूर्ण भक्ति रस की अवस्थाओ के रूप में आते है और कभी-कभी स्वतत्र रस के रूप में। किन्तु यथार्थत शान्त, भक्ति के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। क्योकि भक्ति का स्थायीभाव प्रेम है। आसक्ति इसका केन्द्र-बिन्दु है जब कि शात का स्थायीभाव 'निर्वेद' है, वैराग्य है जोकि आसक्ति से विपरीत पडता है; किन्तु जो इसे भक्ति के अन्तर्गत रखते है उनका तर्क यह हो सकता है कि भक्ति की आसक्ति ईश्वर के प्रति है और शात का निर्वेद ससार के प्रति होता है। सासारिक निर्वेद ही ईश्वर के प्रति प्रेम को जाग्रत करता है। अतः निर्वेद, भक्ति के लिए नीव तैयार करता है, उसके लिए क्षेत्र बनाता है। किसी भी रूप में क्यो न लें, शृगार जो कि लौकिकरति या स्त्री-पुरुष के प्रेम से ही सम्बन्धित है, भक्ति से भिन्न रस है। शान्त रस भक्ति के अन्तर्गत हो सकता है; किन्तु शान्त के क्षेत्र में भक्ति का समावेश पूर्ण रीति से नही हो सकता है।

भक्तो के द्वारा जो शान्तरस का वर्णन है उसमें भक्ति व्यग्य है। यह निर्वेद की भावना अद्वैतवाद और मायावाद के दार्शनिक सिद्धान्तो के फल स्वरूप है जिसमें चाक्षुष विश्व को पीडामय मान लिया है। निर्गुण और सगुण दोनो प्रकार भक्तो ने जगत से निराशा, निर्वेद और घृणा के भावो का सहारा लिया है और हृदय में संसार के प्रति निर्वेद का क्षेत्र तैयार कर उसमें ईश्वर भक्ति का सुदृढ बीज बोया है। इस प्रकार शान्तरस, भक्ति भावना की प्रारम्भिक अवस्था के रूप में आता है। यदि इसे हम भक्ति के अन्तर्गत रखें तो इसके दो पक्ष रहते हैः—एक तो निर्वेदात्मक, दूसरा विश्वासात्मक। निर्वेदात्मक भाव तो जगत के दुःखो, तथा सुखो की क्षणभगुरता आदि के कारण उत्पन्न होते है और विश्वासात्मक भाव, परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता और दया पर विश्वास के कारण है। निर्वेदात्मक भावना के उदाहरण नीचे की पंक्तियो में देखे जा सकते है—

---

* देखिये हरिभक्तिरसामृत सिन्धु (रूपगोस्वामीकृत)।

"माली आवत देख कै, कलियन करी पुकार।
फूले फूले चुनि लिये, कालि हमारी वार॥
पात पडता यो कहै, सुन तरुवर वनराइ।
अब के बिछुड़े ना मिलें, दूर पड़ेंगे जाइ॥
चलती चक्की देखि कै, दिया कवीरा रोय।
दो पाटन के बीच में, सावित बचा न कोइ॥"*

सासारिक वस्तुओं की क्षणभगुरता का भाव नीचे के पद में कितनी गहराई से व्यक्त किया गया है —

"भूला लोग कहै घर मेरा।
जा घर में तू भूला डौलै, सो घर नाही तेरा।
हाथी घोड़ा, बैल वाहना, संग्रह कियो घनेरा।
बस्ती मा से दियो खदेरा, जगल कियो बसेरा।
गाँठी बाँधि खर्च नहि पठयो, बहुरि कियो नहि फेरा।
बीबी वाहर हरम महल के, बीच मियाँ को डेरा।
नौ मन सूत अरुझि नहि सुरझै, जन्म-जन्म अरुझेरा।
कहै कबीर सुनौ हो संतो, यह पद करहु निबेरा।"†

पुन ससार दुःखमय है यह भावना नीचे लिखे पद में कितनी गहरी है: —

"जो देखा सो दुखिया देखा, तन धरि सुखी न देखा।
उदय अस्त की बात कहत है, ताका करहु विवेका।
वाटे वाटे सब कोई दुखिया, क्या गिरही बैरागी।
सुकाचार्य दुख ही के कारण, गर्भहि माया त्यागी।
जोगी दुखिया जंगम दुखिया, तापस के दुख दूना।
आशा तृष्णा सब घट व्यापी, कोई महल नहि सूना।
साँच कहौं तो सब जग खीझै, झूठ कहा नहि जाई।
कहै कबीर तेइ भे दुखिया, जिन यह राह चलाई॥"‡

निर्गुण भक्तो की ही नही सगुण भक्तो की कविता में भी ये भाव प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। सूर और तुलसी ने भी संसार की क्षणभगुरता पर बडी प्रचुरता से लिखा है, किन्तु सगुण भक्तो की कविता में अन्त में

---

* कबीर (हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत), पृ० ३२८, पद ४५।

† कबीर वचनावली, शब्द २०४, पृ० १७९।

‡ कबीर वचनावली, शब्द २०५, पृ० १८०।

परमात्मा के ऊपर दृढ विश्वास की भावना का प्रकाशन है और इस नश्वरता से उबारने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गई है.—

"हरि बिनु कोऊ काम न आयो।
यह माया झूठी प्रपच लगि रतन सो जनम गँवायो।
कंचन कलस विचित्र चित्रकरि, रचि पचि भवन बनायो।
ताको हूँ तेहि छिन ही काढ़्यो पलभर रहन न पायो।
तेरे संग जरौंगी यह करि त्रिया धूति धनि खायो।
चलत रही चितचोरि मोरि मुख एक न पग पहुँचायो।
बोलि-बोलि सुत स्वजन मित्रजन लीन्हो सो जेहि भायो।
पर्‍यो काज अब अंत की विरियाँ, तिनही आनि बँधायो।
आसा करि करि जननी जायो, कोटिक लाड लड़ायो।
तोरि लियो कटि हू को डोरा, ता पर बदन जरायो।
कोटि जनम भ्रमि-भ्रमि हार्‍यो,हरि पद चित न लगायो।
और पतित तुम बहुत उधारे, सूर कहा विसरायो।।"*

जगत की क्षणभंगुरता, दु ख एव परमात्मा में विश्वास की भावना एक साथ ही नीचे के छन्द में व्यक्त है। तुलसी कहते है :—

"झूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर जरे मद अम्बु चुवाते।
तीखे तुरंग मनोगति चंचल, पौन के गौनहु ते बढ़ि जाते।
भीतर चद्रमुखी अवलोकति, वाहर भूप खरे न समाते।
ऐसे भये तो, कहा तुलसी जु पै जानकीनाथ के रंग न राते।।" †

किन्तु दृढ विश्वास की भावना सभी निराशा को दूर बहा देती है :—

"अब के राखि लेहु भगवान।
हम अनाथ बैठे द्रुमडरिया पारधि साधे बान।
जाके डर भाज्यो चाहत है ऊपर ढुक्यो सचान।।
दुवौ भाँति दुख भयौ आनि यह कौन उबारै प्रान।
सुमिरत ही अहि डस्यो पारधी, कर छूटे सधान।
सूरदास सर लग्यौ सचानहिं जै जै कृपानिधान।।"‡

---

* सूरसागर

† कवितावली उत्तरकांड

‡ सूरसागर प्रथम स्कंध, पद ३८

इस प्रकार के उदाहरण भक्त कवियो की कविता में बराबर मिलते हैं। निर्वेद और निराशा की भावना ही परमात्मा की दया और अनुग्रह पर विश्वास को और दृढ बनाती है। अत यह अधिक समीचीन है कि निर्वेदात्मक पक्ष को हम शान्त रस के अन्तर्गत और विश्वासात्मक भावना को हम शान्त भक्ति के अन्तर्गत मान लें।

दास्य भक्ति

भक्ति का दूसरा भाव दास्य भाव है। इसमें प्रधान भाव सेवा और आत्म-दीनता है। भक्त अपने आराध्य के सम्मुख अपने सभी दोषो को मानकर उसकी सेवा और भक्ति का अधिकार चाहता है। वह और कोई वरदान भी नही चाहता, केवल सेवा का ही जन्म-जन्मान्तर तक अधिकार चाहता है। दास्य भक्ति किन्ही अगो में तो सभी भक्तो की कविता में मिलती है पर पूर्ण-रूप से इसका विकास तुलसी के काव्य में हुआ है, जो दास्य भक्ति को ही प्रधान स्थान देते हैं। वे कहते हैं :—

"सेवक सेव्य भाव विनु भव न तरिअ उरगारि ॥" †

अतः उनके विचार से भक्ति का अर्थ दास्य भक्ति है जिसमें सबसे वडे आदर्श हनुमान है। तुलसी भक्ति को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। इस भक्ति के समक्ष वे मुक्ति को भी तुच्छ मानते हैं। मुक्ति राम के भक्त के पीछे-पीछे चलती है :—

"राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अन इच्छित आवै बरिआई" ‡

वे प्रत्येक जन्म में राम के प्रति अगाध भक्ति को छोड कर और कुछ नही चाहते है। काकभुसुण्डि,और शकर राम के भक्तो के आदर्श उदाहरण है। राम, सृष्टि के ईश्वर है, सर्व शक्तिमान है, सर्व सौन्दर्यमय है,सर्व गुण सम्पन्न और परम शीलवान् है। उनके प्रति तुलसी की भक्ति अखण्ड, अटूट और अगाध है। राम के रूप में वे सर्वत्र सौन्दर्य, शक्ति, दया, न्याय आदि गुणो को पाते है। राम एक काल के पुरुष नही है, सर्व कालो के विस्तार में व्याप्त है। राम के इन्ही गुणो पर उनकी भक्ति आश्रित है और जितना ही राम की कृपा का ज्ञान होता जाता है, उनकी भक्ति उतनी दृढता और भीप्राप्त करती जाती है। भक्ति, गुणो का ही सहारा लेकर टिकी है। राम का अप्रतिम सौन्दर्य, उनकी सामर्थ्य और

---

† रामचरितमानस उत्तरकांड।

‡ रामचरितमानस उत्तरकांड।

उसके भी ऊपर उनका पतितपावन यश, दास्य भक्ति का आलम्बन है। पतितपावन यश ही भक्त को आकृष्ट करता है, तुलसी कहते है :—

"मै हरि पतितपावन सुने।
हम पतित तुम पतितपावन दोउ बानक बने।
ब्याध, गणिका, गज, अजामिल साखि निगमन भने।
और अधम अनेक तारे जात का पै-गने।
... ...
दासतुलसी सरन आयो राखिये आपने ॥"†

किन्तु यह भाव और भी उत्तेजना और विकास पाता है राम के सुन्दर स्वभाव उनके शील के कारण। शील-स्वभाव का वर्णन करते हुए तुलसी कहते है —

"सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ।
सिसुपन ते पितु मातु बन्धु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम विधु बदन रिसौंहैं सपनेउ लखेउ न काउ।
... ...
सिला साप संताप विगत भई परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय चरण छुए पछिताव।
कह्यो राज बन दियो नारिबस गरि गलानि गये राउ।
ता कुमाति को मन जोगवत ज्यो निजु तन मरम कुघाउ॥
... .
निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ॥
समुझि समुझि गुणग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसिदास अनयास राम पद पइहै प्रेम पसाउ॥" ‡

इस शील के कारण उनकी भक्ति में दृढविश्वास और उनके यश को सुन कर पुलक स्वाभाविक है :—

"नाम राम को कल्पतरु, कलि कल्यान निवास।
जो सुमिरत भये भाँग ते, तुलसी तुलसीदास॥"

---

† विनयपत्रिका, पद १६०

‡ विनयपत्रिका, पद १००

"रहै न जल भरपूरि, राम सुजस सुनि रावरो।
तिन आँखिन मैं धूरि, भरि भरि मूठी मेलिये ॥" *

उपर्युक्त उदाहरणो में भक्ति के स्थायीभाव तथा राम के यश, सामर्थ्य तथा शील के विभावो-द्वारा उत्पन्न बहुतेरे अनुभाव और सचारी भाव दिखलाई देते है। "मोद न मन तन पुलक नयन जल" में रोमाच और अश्रु अनुभाव तथा हर्ष और जुगुप्सा के सचारीभाव है। इनके अतिरिक्त दीनता, हर्ष, गर्व, धृति, विश्वास, शका इत्यादि के लिए हम "कवहुँक अम्ब अवसर पाइ" (विनयपत्रिका), आपु है आपको नीके जानत रावरो नाम भरायो गढायो (कवि०, ६० उत्तर काण्ड) साँची कही कलिकाल कराल (कविता०, १०१ उत्तर) 'रावरो कहावौ गुण गावौ राम रावेरोई (कवि० ६३, उत्तरकाण्ड)तथा तुम अपनायो तव 'जानिही जव मन फिरि परिहै (२६८, विनयपत्रिका) आदि छन्द उद्धृत कर सकते है। सच तो यह है कि विनयपत्रिका के सभी पद दास्य भवित के भावो के उदाहरण है और इसके विस्तृत विवेचन के लिए उसके उदाहरणो को लिया जा सकता है सूर के भी विनय के पदो † में दास्य भवित के उदाहरण मिलते है और इसी प्रकार अन्य भक्त कवियो की कविता में भी।

सख्य भक्ति

जहाँ आराध्य की उपासना मित्र भाव से होती है, वहाँ पर सख्य भक्ति है। इसमें भक्त देवता के सभी गुणो से अवगत रहता है, उनके प्रति उसके हृदय में श्रद्धा और विश्वास भी रहता है। फिर भी अपने को अधिक निकटता के सम्वन्ध में स्थापित करने के नाते वह केवल भय या आतक से प्रेरित न होकर अपने को भी समकक्षता में रखता हुआ विनोद भी करता है। इस प्रकार उसकी उपासना अधिक निकट से है। इस भक्ति में और दास्य भक्ति में अन्तर यह है कि दास्य में व्यक्ति अपनी दीनता, अपने पापो, अपनी तुच्छता की और अधिक सचेत रहता है। इसमें इस दीनता की भावना का स्थान नही। भक्त भगवान् का मित्र है, अत सदा उनके सान्निध्य में विचरता है। इसलिए दीनता और पाप किस बात के ? वे तो कव के धुल

---

*दोहावली।

† दीनता—"हौं प्रभु सब पतितन कौ टीको" ७९ सूरसागर प्रथम स्कन्ध वेंकटेश्वर प्रेस। विश्वास—"जाको दीनानाथ निवाजै" [२१ सूरसागर प्रथम स्कन्ध, वेंकटेश्वर प्रेस तथा और पद।

गये। तुलसी की भक्ति में इसका स्थान नही है। किन्तु सूर के ग्वाल-बाल सुदामा, बलराम, श्रीदामा, सुबल आदि सभी कृष्ण के सख्य-भक्त हैं। हिन्दी काव्य में सख्य भक्ति का विकास उस व्यापकता से नही हो सका, जिस व्यापकता से दास्य, वात्सल्य और माधुर्य भक्ति का हुआ है। विद्यापति, सूरदास आदि अष्टछाप के कवि एव कुछ अन्य कवि ऐसे है जिनकी रचनाओ में सख्य भक्ति के उदाहरण मिलते है। विद्यापति की कविता में अन्य भक्ति-भावनाओ की अपेक्षा सख्य भक्ति-भावना ही अधिक देखने को मिलती है। कृष्ण उनके सखा हैं, अतः वे सब प्रकार की बातें कहते है। मित्र की भाँति वे राधा को कृष्ण का सदेश देकर कृष्ण की वन्दना करते हैं देखिये:—

"नन्द क नन्दन कदम्ब क तरुतर धिरे धिरे मुरली बजाव।
समय सँकेत निकेतन बइसल, बेरि बेरि बोलि पठाव॥
सामरि तोरा लागि अनुखन विकल मुरारि।
जमुना क तट उपवन उदवेगल, फिरि-फिरि ततहि नहारि॥
गोरस वेंचए अबइत जाइत जनि जनि पुछ बनमारि।
तोहे मतिमान, सुमति मधुसूदन, बचन सुनह किछु मोरा॥
भनइ विद्यापति सुन वरजौवति, बन्दह नन्द किसोरा॥" †

कृष्ण और राधा के वर्णन में कृष्ण की प्रत्येक भावना को निस्संकोच भाव से वर्णन करके भी वे उनके भक्त है, अतः उनकी भक्ति सख्य भक्ति है। इस भक्ति का भाव जो हमारे हृदय मे व्याप्त होता है वह सूर और तुलसी के विनय के पदो में प्राप्त होनेवाले भाव से नितान्त भिन्न है।

सूरसागर के अन्तर्गत भी हम सख्य भक्ति के उदाहरण पाते है। जब कृष्ण अन्य गोपकुमारो के साथ बन में गाय चराने जाते है उस समय का सूर का वर्णन सख्य भक्ति के अनुकूल है। उदाहरण के लिए नीचे के पद्य हैं:—

"खेलत श्याम ग्वालन सग।
सुबल हलधर अरु सुदामा करत नाना रंग।
हाथ तारी देत भाजत सबै करि-करि होड़।
बरजे हलधर श्याम तुम जिनि चोट लगि है गोड़।
तब कह्यो मैं दौरि जानत बहुत बल मो गात।
मोरी जोरी है सुदामा हाथ मारे जात।

† विद्यापति पदावली—पद १।

बोलि तबै उठे सुदामा जाहु तारी मारि।
आगे हरि पीछे सुदामा धरयो श्याम हँकारि।
जानि कै मैं रह्यो ठाढो छुवत कहा जु मोहिं।
सूर हरि खीझत सखा सो, मनहि कीन्हो कोहि ॥" *

+ + +

द्रुम चढि काहे न टेरत कान्हा गैया दूरि गईं।
धाई जात सबन्हि के आगे जे वृषभानु दईं।
घेरे न घिरत तुम बिन माधवजू मिलत नहीं का दईं।
बिडरत फिरत सकल वन महियाँ एकहिं एक भईं।
छाँड़ि खेल सब दूरि जात हैं बोलो जो सके थोक कईं।
सूरदास प्रभु प्रेम समुझि के मुरली सुनत सब आइ गईं ॥

इसी प्रकार सखाओ को निस्सकोच कथन :—

सखा कहत है श्याम खिसाने।
आपुहिं आप ललकि भये ठाढ़े अब तुम कहा रिसाने।
बीचहिं बोलि उठे हलधर तब इनके माइ न बाप।
हारि जीति कुछ नेक न जानत लावत मनमें पाप।
आपुन हारि सखा सो झगरत यह कहि दियो पठाई।
सूर श्याम उठि चले रोइ कै जननी पूछत धाई ॥" †

इसी भाँति श्रीदामा का कथन—"खेलन में को काको गुसैयाँ" आदि पदो में भी गाय चराने जाते है, सख्य भक्ति ही व्यजित है। सभी सखा वन में मिल कर कृष्ण के साथ-साथ और आनन्द मनाते है। इसका चित्रण नीचे के पद में देखिये :—

"अति आनद भयो हरि धाये।
टेरत ग्वाल बाल सब आये मैया मोहिं पठाये।
उत ते सखा हँसत सब आवत चलहु कान्ह बन देखहु।
बनमाला तुमको पहिरावहिं धातु-चित्र तन देखहु।
गाइ लेइ सब घेरि घरन ते महर गोप के बालक।
सूर श्याम चले गाइ चरावन कस डरहिं के सालक।" ‡

---

*सूरसागर दशमस्कंध, पद ८६।
†सूरसागर, दशमस्कंध, पद ६९९।
‡ " " पद ८७।
:: " " पद ५२१।

इन तथा इसी प्रकार के अन्य पदो में हम कह सकते हैं कि कृष्ण के सखाओ का भाव सख्य भक्ति का है , उनके हृदय में कृष्ण के प्रति श्रद्धा है फिर भी वे कृष्ण के साथ ही खेलते-कूदते हैं । यथाथ में कृष्ण के सम्पर्क में आने-वाले सभी व्यक्ति किसी न किसी भक्ति भाव के सूत्र से बँधे हैं और ये गोप-बालक सख्य भक्ति के सम्बध में बधे हैं । यत्र तत्र अन्य कवियो के छन्दो में भी सख्य भक्ति के उदारहरण मिलते हैं । रसखान का निम्नलिखित छन्द देखिये:—

"दानी भये नये माँगत दान हो, जानि है कंस तौ बंधन जैहौ ।
टूटे छरा बछरादिक गोधन जो धन है सो सबै धन दैहौ ।
रोकत हो बन में रसखान चलावत हाथ घनो दुख पैहौ ।
जैहै जो भूषन काहू तिया को तो मोल छला के लला न बिकैहौ ।। *

इसी प्रकार मतिराम का नीचे लिखा छन्द:—

"मानहुँ पायो है राज कहूँ चढ़ि बैठत ऐसे पलास के खोढ़े ।
गुंज गरे सिर मोरपखा, मतिराम जू गाय चरावत चोढ़े ।
मोतिन को मोरो तोरयो हरा, गहे हाथनि सो रही चूनरि पोढ़े ।
ऐसेहि डोलत छैला भये, तुम्हैं लाज न आवत कामरी ओढ़े ।। †

आदि उदारहरण भी सख्यभक्ति की ही सुष्ठु भावना को लेकर चलते हैं । इसमें केवल सेवा या प्रेम की भावना ही नही, वरन् विनोद की भावना भी अर्तनिहित रहती है ।

वात्सल्य भक्ति

ऊपर कही गई कविताओ में कवियो की भावना स्पष्ट है । उनकी भक्ति परम्परा से पूजे जानेवाले और युग-युग से प्रतिष्ठित परमात्मा के प्रति है अवश्य, परन्तु वे अपने विनोद को श्रद्धा या भक्ति के कारण छोड नही सकते और परमात्मा के यशस्वी कृत्यो तक की भी आलोचना करते हैं; फिर भी भक्ति का भाव उपस्थित अवश्य है । बिहारी जो अपनी सतसई में सबसे प्रथम दोहे में राधा की प्रार्थना यो करते हैं:—

"मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय ।
जा तनकी झाँई परे, श्याम हरित द्युति होय ।।"‡

---

*सुजान रसखान, ६१ छंद ।

†रसराज—२७२ छंद ।

‡बिहारीरत्नाकर १ ।

श्रौर वे कृष्ण श्रौर राधा के प्रति यह विनोद करना भी नही भूलते कि :—

'चिरजीवो जोरी जुरै, क्यो न सनेह गँभीर।
को घटि वे वृषभानुजा, ये हलधर के वीर।।" †

किन्तु यह भक्तिभावना उतनी तन्मयता नही रखती जितनी कि दास्य, भक्ति, वात्सल्य श्रौर माधुर्य भक्ति में श्रपेक्षित है। दास्य भक्ति में सेवा श्रौर समर्पण तथा दैन्य-श्रनुभव सबसे श्रधिक है श्रौर जिसके समान दूसरी भक्ति माधुर्य ही ठहरती है। तुलसी दास्य भक्ति के क्षेत्र में सिद्धहस्त है ; पर वात्सल्य के क्षेत्र में सूर की समता करनेवाला कोई नही है। बालको की चेष्टा, स्वभाव का विस्तृत विवरण सूरदास की वात्सल्य भक्ति का श्राधार है। वह कृष्ण की बाल-छवि, उनकी विलक्षण श्रौर मनमोहनी क्रीडाश्रो श्रौर चेष्टाश्रो पर मुग्ध होकर श्रपनी भक्तिभावना उस श्रलौकिक शक्तिसम्पन्न बालक को समर्पित करते है। कृष्ण के प्रति स्वाभाविक शिशु-सुलभ प्रेम जगाकर वे गोपी श्रथवा यशोदा एव नद के रूप में कृष्ण के प्रति श्रनुराग बढाते है। कृष्ण श्राकर्षण के केन्द्र है। श्रपने श्रलौकिक साहस भरे शक्ति-वाले कार्यो के कारण नही,जितने कि श्रपनी स्वाभाविक बाललीलाश्रो के कारण, जिन्हें सूर ने श्रपनी कल्पना-द्वारा बडी ही यथार्थता के साथ चित्रित किया है श्रौर एक-एक चेष्टा एक-एकक्रीडा को सच्ची श्रनुभूति से भर दिया है। वात्सल्य भक्ति में दो पक्षो का वर्णन है—एक सयोग श्रौर दूसरे वियोग। सयोग-वात्सल्य के श्रन्तर्गत, कृष्णजन्म के उत्सव, बधाई से प्रारम्भ होकर, उनका पालने में पडे हाथ,पाँव चलाना, श्रँगूठे का मुँह में डालना, दो दाँतो का झलकना, दूध पीना, पेट के बल सरकना, घुटनो के बल चलना, तोतले बोल बोलना, मक्खन के लिए या चद्रमा पकडने के लिए मचलना, चोटी बढाना, बाहर खेलने जाना, गायो को पुकारना, दूसरो के घर मक्खन चुराकर खाना श्रौर बहाना बनाना, ग्वालो के साथ गायें चराने जाना, मुरली बजाना, खेलना श्रादि-श्रादि श्रनेक बालसुलभ लीलाश्रो का वर्णन है। ये सभी लीलाएँ, यशोदा तथा श्रन्य गोपियो में वात्सल्य-भावना जाग्रत कर देती है। यह भावनाएँ उन गोपियो तथा गोपो की है, जो माता के रूप में है श्रौर कृष्ण को बालक के समान देखती है।

यही सूर के वर्णन की एक सबसे बड़ी विशेषता है, जो कि सूर के काव्य को भक्तिभावना से श्रोत-प्रोत कर देती है। जो भी गोप या गोपी ब्रजमडल म

---

† बिहारी रत्नाकर।

कृष्ण को जिस भावना से देखते है, वही भावना उनकी कृष्ण के वड होने पर भी बनी रहती है और वह जीवन-व्यापी भावना है। नन्द-यशोदा तथा अन्य वडी अवस्था की गोपियाँ, कृष्ण को वात्सल्य-भावना से देखती है और वही भावना जीवनपर्यन्त रहती है, परन्तु गोपयुवतियाँ प्रारम्भ से ही कृष्ण को माधुर्य भाव से भजती है, उनके लिए कृष्ण कभी भी बालरूप नही है। कृष्ण बालपन में भी उनके अन्तर्गत प्रेम की भावना, अपने सौन्दर्य और कृत्यो के द्वारा उत्पन्न करते हैं। उनके लिए कृष्ण बालरूप में भी युवक है जोकि माता तथा अन्य वात्सल्य भाव से भजनेवाले गोप-गोपियो के सम्मुख वालरूप हो जाते है। बालक कृष्ण को व्रजयुवतियाँ किस दृष्टि से देखती है यह नीचे के पद से स्पष्ट है :—

"व्रज घर-घर प्रगटी यह बात।
दधि माखन चोरी कै लै हरि, ग्वाल सखा सग खात।
व्रज बनिता यह सुनि मन हरषीं, सदन हमारे आवैं।
माखन खात अचानक पावैं, भुज भरि उरहिं छुवावैं।"
......इत्यादि।

अतः उनकी भक्ति प्रारम्भ से ही माधुर्य भाव को लिये है।

सूर का वात्सल्य-भक्तिभावना का वर्णन बहुत ही विस्तत है। यशोदा का कृष्ण को पालने में झुलाना,* उनकी कृष्ण के घुटनो के बल चलने की इच्छा † उनका कृष्ण को पैर-पैर चलना सिखाना, ‡ अन्य स्त्रियो की कृष्ण को अपनी गोद में लेने की इच्छा, यशोदा का कृष्ण को दूध पीने

---

* "जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै॥
......इत्यादि।

† जसुमति मन अभिलाख करै।
कब मेरो लाल घुटुरुअन रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै॥
....

‡ सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराइ करि पानि गहावति, डगमगाय धरनी धरै पैयाँ॥
....

∴ नेकु गुपालहि मोकों दैरी।
देखौं कमल वदन नीके करि ता पाछे तू कनियाँ लैरी॥"
....

के लिए फुसलाना, * और कृष्ण का चोटी बडी करने के लिए मचलना †
और अन्य बहुतेरी भावनाओ का चित्रण वात्सल्य भाव को और अधिक उत्तेजित करता है। सध्या समय में माता बालक को बाहर नही रहने देती, जिससे कि अँधेरे में वह कही गिर पड़े या कोई पशु उसे रौद डाले। यशोदा का कृष्ण को सध्या समय घर को बुलाना कितना स्वाभाविक है।

"साँझ भई घर आवहु प्यारे।
दौरत कहा चोट लगिजैहै, पुनि खेलहुगे होत सकारे।" ‡

कृष्ण जब बडे होते है तब अपनी भोली छवि और विलक्षण बातो के कारण सभी घरो में आदर पाते है। वे जहाँ मन भाता है जाते है और मक्खन खाते है। कभी-कभी गोपियाँ यशोदा से कृष्ण की शिकायत करने जाती है, किन्तु आन्तरिक भावना कृष्ण के दर्शन की है। यशोदा उनकी शिकायत को सच मानकर कृष्ण को ताडना देती है, उसका चित्रण देखिये :—

"कन्हैया तू नहिं मोहिं डरात।
षटरस धरे छोड़ि कत पर घर चोरी करि-करि खात।
बकति बकति तोसों पचि हारी, नेकहु लाज न आई।
ब्रज परिजन सिरदार महर तू ताकी करत नन्हाई।
पूत सपूत भयो कुल मेरे अब मैं जानी बात।
सूर स्याम अब लौं तोहि बकस्यो तेरी जानी घात॥" ::

यह हमारे सम्मुख नटखट बालक की जिसका उरहना सभी देते है, ताडना का चित्र का उपस्थित करता है, जो नितान्त स्वाभाविक है। दूसरे ही गीत में हम कृष्ण को माता की भर्त्सना पर रोते हुए पाते है, जिसे देखकर माता तुरन्त ही गोद में ले लेती है, चूमती है और उन्हें छाती से लगा लेती है। यह और इसी प्रकार के अन्य अनेक गीत वात्सल्य भाव को चिरस्थायी रूप प्रदान करते

---

* कजरी को पय पियहु लला तेरी चोटी बढ़ै।

....

† "मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥

....

‡ सूरसागर, दशमस्कंध, पद १९९।
:: सूरसागर, दशमस्कंध, पद २९१।

है। कृष्ण गायें चराने जाते है, जब सध्या को वे घर लौटते है तो वे अपन साथी ग्वालो के व्यवहार की शिकायत करते है, उस पर माता का भाव नीचे के पद में देखिये :—

"मैया हौं न चरैहौं गाय।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसो मेरे पाँय पिराय।
जो न पत्याय पूछि बलदाउहि अपनी सौंह दिवाय॥
यह सुनि माइ जसोदा ग्वालन गारी देत रिसाय।
मैं पठवति अपने लरिका कौ भावै मन नहि राई।
सूर स्याम मेरो अति बारो, मारत ताहि रिगाई॥" *

भारतीय माता का कितना स्वाभाविक और सजीव चित्र उपस्थित है! कृष्ण के बालरूप पर हमारा अनुराग दृढ हो जाता है और हम उन्हें अपने बीच में देखना चाहते है। इसी में सूर की वात्सल्य को एक अलग रस बना देने की सफलता है। इस प्रकार की स्वाभाविक बातो के साथ धीरे-धीरे भक्ति की भावना भी दृढ होती चलती है। कृष्ण आलम्बन है; उनकी चेष्टायें, लीलायें, उद्दीपन, वात्सल्य, स्थायी भाव, चुचुकारना, दुलारना आदि अनुभाव तथा हर्ष, खीभ, क्रोध, सशय, चिन्ता आदि सचारी भावो के साथ वात्सल्य रस का पूर्ण परिपाक है। इसका वियोगपक्ष भी कम आकर्षक नही। पुत्र-वियोग का अनुभव जितना करुणाजनक है उसका अनुभव एक माता का हृदय ही कर सकता है। जब कृष्ण गोकुल से मथुरा चले गये तब भी यशोदा की चिंता कृष्ण के लिए बहुत अधिक बनी रहती है। वह जानेवालो से देवकी को कितना करुणापूर्ण सँदेशा भेजती है :—

"संदेशो देवकी सों कहियो।
हौं तौ धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियो।
तुम तौ टेव जानतिही ह्वैहौ तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात उठत मोरे लाल लड़ैतेहि माखन रोटी भावै।
तेल उबटनों अरु तातो जल ताहि देखि भजि जाते।
जोइ-जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम-क्रम करि करि न्हाते।
सूर पथिक सुनि मोहि रैनि दिन बड़ो रहत उर सोच।
मेरो अलख लड़ैतो मोहन ह्वैहै करत सँकोच॥ †

---

* सूरसागर, दशमस्कंध, पद ५२३।

† सूरसागर, दशमस्कंध पद २७०७।

कृष्ण के कृत्यो की स्मृति यशोदा तथा ब्रजवासियो पर बड़ी गहरी है। वे उन्हें पल-पल पर स्मरण करते रहते हैं।

"एहि बिरियाँ वन ते ब्रज आवते।
दूरहिं ते वह बेनु अधर धरि वारहिं वार बजावते।"

यशोदा कहती है:—

"छाड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यौ।
फाटि न गई बज्र की छाती, कत यह सूल सह्यौ॥"

ये सभी वियोग वात्सल्य की गम्भीर भावना के प्रकाशक है। यह सब प्रेम, लौकिक बालक के लिए नही है, वरन् अलौकिक चरित्रवाल श्रीकृष्ण के लिए है। अतः यह लौकिक वात्सल्य न हो कर वात्सल्य भक्ति-भावना के रूप में है। सूर के अतिरिक्त, अष्टछाप के अन्य कवियो ने तथा तुलसी ने भी वात्सल्य पर लिखा है, किन्तु सूर की समता कोई नही कर सका। तुलसी राम तथा लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न आदि के प्रति वात्सल्य वर्णन को उतना व्यापक और विशद नही बना पाये जितना सूर कृष्ण के प्रति वात्सल्य को। फिर भी वात्सल्य भक्ति-भावना है दोनो ही कवियो में। गीतावली के प्रारम्भ के पदो में तुलसी ने राम की बाल्यक्रीडाओ और शिशुदशाओ का वर्णन किया है। राम कुछ अनमने हैं अत माता कौसल्या कुछ चिन्तित दीखती है। नीचे के पद में चिन्ता का भाव व्यक्त है।

"आजु अनरसे हैं भोर के पय पियत न नीके।
रहत न बैठे ठाढ़े पालने झुलावत हूँ रोवत राम मेरो सो सोच सबही के॥१॥
देव, पितर, ग्रह, पूजिये तुला तोलिये घी के।
तदपि कबहुँ, कबहुँक सखी ऐसेहि अरत जब परत दृष्टि दुष्ट ती के।
बेगि बोलि कुलगुरु छुयो माथे हाथ अमी के।
सुनत आइ ऋषि कुस हरे नरसिंह मन्त्र पढ़े, जो सुमिरत भव भीके।
जासु नाम सरबस सदा सिव पारवती के।
ताहि झरावत कौसिला, यह रीति प्रीति की हिय हुलसति तुलसी के॥"*

अन्तिम दो पक्तियाँ वात्सल्य के लौकिक रूप को भक्ति में परिणत कर देती है। और आगे देखिये पालने का गीत है। माता, बच्चो को झुला-झुला कर नीद बुला रही है। इस समय माता की भावना स्पष्ट लक्षित है :—

---

* गीतावली—बालकाण्ड, पद १२।

"सुख नींद कहत आलि आइहौं।
राम लखन, रिपुदवन, भरत सिसु करि सब सुमुख सोआइहौं।
रोवनि धोवनि, अनखनि, अनरसनि, डिठि मुठि निठुर नसाइहौं।
हँसनि, खेलनि, किलकनि आनदनि भूपति भवन बसाइहौं।
गोद विनोद मोदमय मूरति हरषि हरषि हलराइहौं।
तनु तिल तिल करि वारि राम पर लैहौं रोग बलाइहौं॥
रानी राउ सहित सुत परिजन निरखि नयन फल पाइहौं।
चारु चरित रघुवश तिलक के तहँ तुलसी मिलि गाइहौं।" *

इसी प्रकार कौसल्या राम को चलना सिखाती है और प्यार कर रही है :—

"ललित सुतहि लालति सचुपाये।
कौसल्या कल कनक अजिर महँ सिखवति चलन अँगुरियाँ लाये।
कटि किकनी पैजनी पाँयनि, बाजत रुन झुन मधुर रिगाये।
पहुँची करनि कंठ कठुला बन्यो केहरि नख मनि जरित जराये।
पीत पुनीत विचित्र झँगुलिया सोहत स्याम सरीर सोहाये।
दँतियाँ द्वै-द्वै मनोहर मुख छवि अरुन अधर चित लेत चोराये" †

तुलसी का प्रधान भाव जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, दास्य भक्ति का है, वात्सल्य भाव नही। अत उन्हें इतनी सफलता नही मिली है जितनी सूर को, जिनकी वृत्ति इस भाव में सबसे अधिक रमी है। ऊपर कही तीन प्रकार की भक्ति सगुण भक्ति के अन्तर्गत है। निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत इसका कोई स्थान नही।

माधुर्य भक्ति

माधुर्यभाव, सगुण और निर्गुण दोनो प्रकार की भक्ति के अन्तर्गत है। दोनो में अन्तर यह है कि सगुण में भक्त किसी पात्र द्वारा अपना माधुर्य भाव परमात्मा से निवेदन करता है और निर्गुण में भक्त स्वय अपने को भगवान् की पत्नी समझ कर उस सम्बन्ध में अपने को बाँधता है। पर मीरा की माधुर्य भक्ति सबसे स्वाभाविक और तीव्र है, क्योकि वे स्वय स्त्री है, अत माधुर्य भाव का उनका अपना अनुभव यथार्थ है। निर्गुण उपासक अद्वैतवाद पर मूलत विश्वास करने के

---

* गीतावली, बालकाण्ड, पद—३९।

† गीतावली, बालकाण्ड, पद—५८।

कारण अपने को परमात्मा के समान ही समझना है और उससे जहाँ पर अनु-राग का सम्बन्ध स्थापित हुआ वही पर माधुर्य भाव की जाग्रति होती है। इस प्रकार यही एक भाव भक्त का रह जाता है। तुलसी के द्वारा प्रचारित रामभक्ति के अन्तर्गत ऐसी भावना का समावेश नही हो सकता। कृष्णभक्ति के अन्तर्गत अवश्य इस भावना का प्रचलन हुआ। राधा तथा गोपियो की उपासना माधुर्य भाव से हुई है। इसके दो पक्ष है, सयोग और वियोग। सयोग के अन्तर्गत कृष्ण के साथ दानलीला जलक्रीडा, रासलीला, वसीवादन इत्यादि है और वियोग के अन्तर्गत गोपियो की विरहदशा का चित्रण है। भ्रमरगीत तथा अन्य पदो में इसी भावना का वर्णन है। रासलीला और भ्रमर-गीत के पद सयोग और वियोग माधुर्य भक्ति के उदाहरण स्वरूप हो सकते है।

निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत माधुर्य ही अकेला भक्ति-भाव है जिसे भक्त निराकार भगवान् के साथ आरोपित करता है और यह भी परमात्मा से मिलने के अनुभव का प्रतीक मात्र है। विरह, परिचय, मिलन, आनन्द आदि की अवस्थाओ को पार करता हुआ भक्त अपने पथ पर चलता है। निर्गुण में वर्णन स्वानुभूत और प्रकाशन यथानुभूत होता है, पर सगुणोपासक भक्त किसी लीला को लेकर उसके वर्णन में अपने को किसी पात्र के रूप में समझ कर अपने भाव व्यक्त करता है। निर्गुणपथ में विरह की भावना आत्मशुद्धि के हेतु वडी आवश्यक है, इसके विना भक्तिपथ पर अग्रसर होना असम्भव है। आत्मा का परमात्मा के प्रति जो प्रवल अनुराग होता है वह किसी अश में पति-पत्नी के प्रेम से तुलनीय होता है। अतः उस सम्बन्ध की उपासना को भी माधुर्य भक्ति कह सकते है। जायसी अपनी पद्मावत में पद्मावती और रतनसेन के विरह और प्रेम का वर्णन करते है। किन्तु उसमें उन दोनो पात्रो में कोई भी एक आज परमात्मा के स्तर पर प्रतिष्ठित नही है। अत उसको हम माधुर्यभक्ति के अन्तर्गत नही रख सकते। सूर के अतिरिक्त माधुर्य भक्ति के प्रसिद्ध उपासक दो और है। एक कबीर और दूसरी मीरा *। कबीर का प्रेम ईश्वर के प्रति वडा गहरा था। वे अपने को राम की स्त्री के रूप में मानकर पति के रूप में उपासना करते है। वे स्वय व्यक्त करते है :—

---

* **मीराबाई की उपासना "माधुर्यभाव" की थी अर्थात् वे अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की भावना प्रियतम या पति के रूप में करती थी"**

रामचन्द्र शुक्ल का हि० सा० इ०,पृष्ठ २२४।

"हरि मोर पिउ मै राम की बहुरिया।
राम बड़े मै छुटक लहुरिया।

+ + +

हरि मोर पीव माई हरिमोर पीव।
हरि बिनु रहि न सकत मोर जीव ।।"

कबीर दुनिया के सम्वन्धो को क्षणभगुर समझते है। इनके स्थायित्व मे उन्हें कुछ भी विश्वास नही है। इस प्रकार की भावना 'शात भक्ति' के अन्तर्गत दिखलाई जा चुकी है। अतः उनका विश्वास निराकार परमात्मा में है जो कि सर्व शक्तिमान और दयालु है। वही निराकार राम कबीर के पति है। कबीर का विश्वास है कि राम-भक्ति में कुछ त्रुटि होने के कारण आत्मा को इस जगत में आना पडा है * और इस जगत में आकर उन्हें परमात्मा के आनन्दमय सम्पर्क से बिछुड कर वियोग का अनुभव करना पडा है। इस वियोग का वर्णन नीचे लिखी पक्तियो में देखिये :—

"आँखड़ियाँ झाईं पड़ी, पन्थ निहारि निहारि ।
जीभडियाँ छाला पड़्या, नाम पुकारि पुकारि ।।

हँसि हँसि कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेले हरि मिलै, कौन दुहागिन कोय ।।"†

साँई बिन दरद करेजे होय।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, कासे कहूँ दुखरोय।
आधी रतिया पिछले पहरवा सांई बिना तरस तरस रही सोय।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, साँई मिलें सुख होय।। ‡

मैना नीझर लाइया, रहट बसै निसि जाम।
पपीहा ज्यूँ पिय पिव करौं, कबहुँ मिलहुगे राम ।।"+

परमात्मा का देश जिसे कबीर पति का देश कहते है उनके लिए प्रबल आकर्षण रखता है। वे उस प्रदेश में जाने और उसे देखने के लिए व्याकुल है। उन्हें उसका कुछ परिचय ज्ञात है। वे कहते है :—

---

* "हरि कहते कछु चूक परि गई पकरि जोलाहा कीन्हा"।

† कबीर वचनावली, साखी १५३, १६२।

‡ कबीर (हजारीप्रसाद द्विवेदी)—५२ पद।

+ कबीर वचनावली, साखी—१५४।

"चल हंसा वा देस जहँ पिया बसै चितचोर ।
सुरत सोहागिन है पनिहारिन, भरै ठाढ बिन डोर ॥
वहि देसवा बादर ना उमड़ै, रिमझिम बरसै मेह ।
चौबारे में बैठ रहो ना, जा भीजहु निर्देह ।
वहि देसवा मा नित्त पूर्निमा, कबहुँ न होय अँधेर ।
एक सुरज के कवन बतावैं, कोटिन सुरज उजेर ॥"*

कबीर नैहर-पिता का घर अर्थात् इस ससार—को नही चाहते है और पति के घर शीघ्र से शीघ्र जाने के लिए व्यग्र है —

"नैहरवा हमका नहि भावै ।
साँई की नगरी परम अति सुन्दर, जहाँ कोउ जाइ न आवै ।
चांद सुरुज जहँ पवन न पानी, को सँदेस पहुँचावै ।
दरद यह साईं को सुनावै ॥
आगे चलौं पथ नहि सूझै, पीछे दोष लगावै ।
केहि विधि ससुरे जांव मोरी सजनी, विरहा जोर जनावै ।
विषै रस नाच नचावै ॥
बिनु सतगुरु कोऊ नहि, अपनो जो यह राह बतावै ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सपने न प्रीतम पावै ।
तपन यह जी की बुझावै ॥"†

उस देश जाने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार है । उन्हें मालूम भी है कि राम से मिलना बहुत कठिन है । इस कारण वह ससार के सभी दुखो को सह कर अपने को परिष्कृत कर प्रिय का ध्यान आकर्षित करना चाहते है । प्रिय से मिलने की इच्छा में वह मृत्यु को भी जिससे ससार डरता है आनद-दायी वस्तु समझते हैं । वे कहते है —

"जा मरने से जग डरे, मेरे मन आनंद ।
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन परमानन्द ॥"‡

यदि एक बार भी राम से भेंट हो जाय तो-फिर वे उन्हें कभी न छोड़ें और उस अवस्था का गहरा प्रेम, तीखी अनुभूति और तन्मयता नीचे के दोहे में कितनी स्पष्ट है:—

---

* कबीर, पृ० २६१, पद ७७ ।

† कबीर का रहस्यवाद (रामकुमार वर्मा), पृ० ५८, परिशिष्ट (क) ।

‡ कबीर वचनावली, साखी—२५६ ।

"नैनां अन्तर आव तू, ज्यूं हौं नैन झँपेउँ ।
ना हौं देखौं और कूँ, ना तुझ देखन देउँ ॥"*

विवाह के अवसर पर दुलहिन पति के द्वारा दी हुई चुनरी धारण करती है। चुनरी, सुन्दर, बेल-बूटो से चित्रित और मनोहारी चोखे लाल रग से रँगी होती है। यह विवाह के समय दी हुई चुनरी पत्नी के लिए वडी मूल्यवान होती है और वह बडे यत्न से सुरक्षित रखती है। कबीर अपने प्रिय से प्राप्त चुनरी के विषय में, जो उसके प्रेम का चिन्ह है, कहते हैं—

"चुनरिया हमरी पिया ने सँवारी ।
कोउ पहिरै पिय की प्यारी ।
आठ हाथ को बनी चुनरिया, पँचरँग पटिया-पारी ।
चाँद सुरज जामें आँचल लागे, जगमग ज्योति उजारी ।
बिन ताने यह बनी चुनरिया, दास कबीर बलिहारी ॥"†

कबीर इस विलक्षण चुनरी को वडी ही सतर्कतापूर्वक ज्यो की त्यो रखते हैं —

"दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यो की त्यो धरि दीनो चुनरिया ॥"

इस भक्ति की अन्तिम अवस्था आनन्द की है। जैसे ही माधुर्य भावना का भक्त अपने प्रिय परमात्मा का सामीप्य प्राप्त करता है, उसका हर्ष बढता जाता है। यह अवस्था ऐसी है जैसी कि पत्नी की पति के समीप जाते समय होती है। अन्त में वह परमात्मा से मिलकर एक होकर अखण्ड आनन्द कर अनुभव करता है.—

"ए अखियाँ अलसानी, पिया हो सेज चलो ।
खंभा पकरि पतंग असि डोलै, बोलै मधुरी बानी ।
फूलन सेज बिछाय जो राखी, पिया बिना कुम्हिलानी ।
धीरे पाँव धरो पलँगा पर, जागत ननद जिठानी ।
कहत कबीर सुनो भई साधो, लोकलाज बिछलानी ॥"‡

इसी प्रकार आनन्दानुभूति को प्रकट करनेवाला "आज दिन के मैं जाउँ

---

* कबीर वचनावली साखी—२८१ ।

† कबीर वचनावली ।

‡ कबीर वचनावली पद १६६ ।

बलिहारी" (कबीर-हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २६६), "रस गगन गुफा में अजर झरै" तथा अन्य पद है।

मीरा की भक्ति, स्त्री होने के कारण, स्वभावत माधुर्य भाव की ओर झुकी है। उनके कृष्ण से वियोग-दशा के उद्‌गार बडे ही मर्मस्पर्शी हैं। वे कृष्ण की उपासक थी और उनका मधुर भाव निर्गुण भक्ति सम्मत न होकर सगुण भक्ति सुलभ हैं। ऐसा कहा जाता है कि वे यह पूछने पर कि वे पुरुषो की लाज-शरम क्यो नही करती, कहा करती थी कि इस ससार में सभी स्त्रियाँ है, पुरुष है कौन ? कृष्ण को छोडकर और कोई भी पुरुष नही। यह कथन उनके आत्मज्ञान का द्योतक है। पुरुष का अर्थ है परमात्मा और स्त्री आत्मा के रूप में है। अतः उन्होने कृष्ण को ही पुरुष मानकर उनकी उपासना की है। मीरा के पद तो बहुत ही प्रसिद्ध है। उनकी भक्ति-भावना बडी ही प्रबल थी और परिवार में अनेक प्रकार के दुर्व्यवहार होने पर भी उनका कृष्ण के प्रति अनुराग अटल रहा। वे जन्मभर कृष्ण-वियोग में व्याकुल रही। वियोगानुभूति का एक पद देखिये:—

"सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारत्त सिगरी रैन बिहानी हो।
सखियन मिलकर सीख दई मन एक न मानी हो।
बिन देखे कल नाहिं परत जिय ऐसी ठानी हो।
अंग अंग व्याकुल भई मुख पिय पिय बानी हो।
अन्तर वेदना विरह की कोऊ पीर न जानी हो।
ज्यूँ चातक घन कूँ रटै मछली जिमि पानी हो।
मीरा व्याकुल विरहिनी सुध बुध विसरानी हो॥"

मीरा के सभी गीत अलौकिक प्रेम की पीर से भरे हुए है। कृष्ण के रूपमाधुर्य पर वे आकृष्ट है और उसपर अपने को निछावर करती है:—

"वा मोहन के मै रूप लुभानी।
सुन्दर बदन कमलदल लोचन, बाँकी चितवन मंद मुसकानी।
जमुना के नीरे तीरे धेनु चरावे, वंशी में गावै मीठी बानी।
तन मन धन गिरिधर पर वारूँ चरण-कमल 'मीरा' लपटानी।" †

मीरा गोपी स्वरूपा है। सूर ने गोपियो के अनुभव के रूप मे जिसे वर्णन

† मीरा पदावली

किया, वह मीरा के निजी अनुभव है, अतः उनकी उक्तियाँ सबसे अधिक मर्म-स्पर्शिनी हुई है ।

माधुर्य भक्ति-भावना सबसे तीखी और प्रबल भावना है । इसके उपासक पक्के अनुरागी है । परमात्मा इसमें आलम्बन, उसका रूप, गुण, आनन्द आदि उद्दीपन, ससार से उदासीनता, प्रिय-मिलन का हर्ष, दीनता, शका, गर्व, विषाद, औत्सुक्य आदि के सचारीभावो से युक्त, पुलक, अश्रु, अनिद्रा आदि अनुभावो से सपन्न यह माधुर्य भक्ति समर्थ भक्ति-भावना है । हिन्दी काव्यक्षेत्र में सभी प्रकार की भक्ति-भावनाओ का समावेश है, पर दास्य, वात्सल्य और माधुर्य का प्रचुर मात्रा में वर्णन हुआ है और यह भक्ति-भावना भक्तिरस, के रूप में हिन्दी काव्य की एक प्रमुख विशेषता प्रगट करती है ।

हिन्दी काव्य में रहस्य-भावना

स्वर्गीय आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक में लिखा है.--"स्वाभाविक रहस्यभावना बडी रमणीय और मधुरभावना है, इसमें सन्देह नही। रसभूमि में उसका एक विशेष स्थान हम स्वीकार करते है। उसे हम अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियो में से एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा (Mood) मानते है जिसका अनुभव ऊँचे कवि और अनुभूतियो के बीच कभी-कभी, प्रकरण प्राप्त होने पर किया करते है। पर किसी वाद के साथ सम्बद्ध करके उसे हम काव्य का एक सिद्धान्त मार्ग (creed) स्वीकार करने के लिए तैयार नही।" *

रहस्य एक भावना ही है काव्य-सिद्धान्त नही, किन्तु जैसा शुक्ल जी का मत है इस भावना के साथ काव्य का समावेश होने पर हमें ऊँची कविता मिलती है। जैसा हम पहले देख चुके है कि भक्ति-भावना से सम्बन्वित कविता में हमें अनोखा सौन्दर्य मिलता है, ऐसा ही रहस्य भावना के अन्तर्गत भी है। इसके पूर्व कि हिन्दी काव्य के अन्तर्गत रहस्य-भावना का विश्लेषण किया जावे, यह आवश्यक है कि रहस्य-भावना का परिचय संक्षेप में हम प्राप्त कर लें। एक अदृश्य, असीम और निराकार शक्ति का, अपने अथवा विश्व के व्यापारो के अन्तर्गत व्याप्तरूप में अनुभव करना ही रहस्य-भावना का मूल है। और जहाँ पर उसके साथ भावात्मक सम्बन्ध का प्रकाशन आ जाता है वही पर वह काव्य के अन्तर्गत रहस्य-भावना कही जाती है। यह रहस्य-भावना परमात्मा सबंधी तार्किकज्ञान से भिन्न है इसीलिए विद्वानो ने उसे सहज और स्वानुभूत अनुभव कहा है। प्रोफेसर रानडे अपने ग्रन्थ "इण्डियन मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र" की भूमिका में लिखते है कि " रहस्य भावना वह मनोवृत्ति है जिसके अन्तर्गत परमात्मा का सीधा, तत्कालिक और अपना सहज अनुभव रहता है" †

---

* काव्य में रहस्यवाद, पृ० ११५।

† "Mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct, immediate, first hand, intuitive apprehension of God".

(Indian Mysticism in Maharashta by Prof. R. D. Ranade P. 1 Preface)

इसी प्रकार डा० एस० एन० दास गुप्त ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू मिस्टिसिज्म' में लिखा है —मिस्टिसिज्म योरोपीय शब्द है जिसके पीछे एक निश्चित इतिहास है। बहुतेरे यूरोपीय लेखको ने इस शब्द को अपने आराध्य देवता के ध्यान, सम्पर्क और मानसिक अनुभवो द्वारा सहज अथवा आनन्दपूर्ण मिलन के अर्थ का द्योतक माना है अथवा मनुष्य की आत्मा का चरम सत्य के साथ सम्बन्ध या प्रबल मिलाप के अर्थ को प्रकाशित करनेवाला बताया है" * परन्तु उनके विचार से मिस्टिसिज्म (रहस्यवाद) "एक सिद्धान्त, नियम या भावना है जो तर्क को पूर्ण सत्य की खोज अथवा उसके अनुभव में असमर्थ समझती है— (सत्य का स्वभाव चाहे जैसा हो) पर साथ ही साथ किसी अन्य ढग को निश्चय ही उस तक पहुँचने में समर्थ समझती है।" † यह अन्य ढंग, सहजानुभूति है जिसको कबीर ने 'सहजज्ञान' कहा है जो अनेक व्यक्तियो व ग्रन्थो के बताये ज्ञान का आधार अवश्य लेता है पर जो है अपना निजी और अपने भीतर ही प्राप्त किया हुआ अनुभव। इसी को कुछ लोग भावात्मक सम्बन्ध कहते है, सगुण भक्त कवियो ने भी ईश्वर को ज्ञान-गम्य नही वरन् भाव-गम्य कहा है।

भक्ति और रहस्य भावना

ऊपर कहे गये सीधे और टेढे-मेढे शब्दो का अन्ततोगत्वा निष्कर्ष यही निकलता है कि रहस्यवाद ईश्वर के ज्ञान, तर्क और दर्शन के आधार पर प्राप्त निराकार और असीम स्वरूप की भक्ति है। कुछ विद्वान्-भक्ति और रहस्य भावना को

---

* "The word Mysticism is a European word with a definite history. Most European writers have used it to denote an intuitive or ecstatic union with the deity, through contemplation, communion or their mental experience, or to denote the relationship and potential union of human soul with ultimate reality."

P. 16, Hindu mysticism by Dr. S. N. Das Gupta.

† 'a theory, doctrine or view that considers reason to be incapable of discovering or realising the nature of ultimate truth, whatever be the nature of this ultimate truth, but at the same time believes in the certitude of some other means of arriving at it."

P. 16, 17, Hindu mysticism by Dr. S. N Das Gupta.

एक मानते हैं और वे उपनिषद भागवत, भगवद्गीता, शैवतन्त्र, नारद और शांडिल्य भक्ति-सूत्रों को रहस्यवादी भावना के अन्तर्गत सम्मिलित करके भक्ति और रहस्य-भावना में कोई अन्तर नहीं बताते हैं*। वे तुलसी, कबीर नाभादास आदि सभी भक्तों को रहस्य-भावना के ही भावुक मानते हैं।† इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत भक्ति का विस्तृत अर्थ लेकर भक्ति को ही रहस्यवाद का पर्याय मान लिया गया है। किन्तु, पंडित रामचन्द्र शुक्ल अव्यक्त और निर्गुण को ज्ञान और जिज्ञासा का विषय मानते हैं, भक्ति या किसी भी भावात्मक सम्बन्ध से उसकी उपासना या अनुराग तब तक सम्भव नहीं जब तक कि उसके गुणों तथा उसके स्वरूप से हम परिचित न हों। वे लिखते हैं—

"व्यवहार पक्ष में शंकराचार्य ने जिस उपासना-गम्य ब्रह्म का अवस्थान किया है वह सोपाधि या सगुण ब्रह्म है, अव्यक्त पारमार्थिक सत्ता नहीं। अव्यक्त, निर्गुण, निर्विशेष (absolute) ब्रह्म उपासना के व्यवहार में सगुण ईश्वर हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि उपासना जब होगी तब व्यक्त और सगुण की ही होगी। अव्यक्त और निर्गुण की नहीं। ईश्वर, शब्द ही सगुण और विशेष का द्योतक है, निर्गुण और निर्विशेष का नहीं।······

भारतीय दृष्टि के अनुसार अज्ञात और व्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है, अभिलाषा या लालसा नहीं।····· जिज्ञासा और लालसा में बड़ा भेद है। जिज्ञासा केवल जानने की इच्छा है। उसका ज्ञेय के प्रति अनुराग, राग, द्वेष, प्रेम, घृणा इत्यादि का कोई लगाव नहीं होता। उसका सम्बन्ध

---

* देखिये—
"Indian mysticism in Maharashtra by R. D. Ranade,
Pages 2 to 14.
और

"Hindu Mysticism by Dr S. N. Das Gupta.

†"Ramanand. who was a philosophical descendant of Rama Nuja, quarrelled with his spiritual teacher, and came and settled at Banaras From him, three great mystical schools started up. the first, the School of Tulsidas; the second, the school of Kabir; and the third, the School of Nabhaji. Kabir was also influenced by sufism. Tulsidas was greatly influenced by the historico-mythical story of Rama."

P. 15, Indian Mysticism by R. D. Ranade.

शुद्ध ज्ञान के साथ होता है। इसके विपरीत लालसा या अभिलाष, रति-भाव का एक अंग है। अव्यक्त ब्रह्म की जिज्ञासा और व्यक्त, सगुण ईश्वर या भगवान् के सान्निध्य का अभिलाष, यही भारतीय भक्ति पद्धति है।" *

ऊपर के कथन में शुक्लजी ने जिज्ञासा और ज्ञान की क्रिया को अनुराग या प्रेम, उपासना या भक्ति की क्रिया से बिल्कुल ही अलग कर दिया है। भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास हमें बताता है कि ऋषि-मुनि चिन्तन-द्वारा ब्रह्म के जिस ज्ञान के समीप पहुँचे है उसको व्यवहारिक रूप में लाने के लिए तदनुकूल उसकी भक्ति भी उसी के साथ-साथ ही चलती है। चिन्तन-द्वारा हमें यह जानने में आया कि ब्रह्म सर्वान्तिर्यामी है अत. वह हमारे अन्त करण में भी व्याप्त है। इस ज्ञान को लेकर हमने उसे अपने में खोजा और उसका जो अनुभव-हमारा भावनाओं से सम्बन्धित हुआ उसी अनुभव को हम रहस्य-भावना कह सकते हैं। भक्ति को यदि हम कुछ और सीमित रूप में लें तो इस अनुभव-द्वारा प्राप्त स्वरूप की चेतना, उपासना अथवा उसके प्रति कर्तव्यशील रहना आदि भाव, भक्ति के अन्तर्गत कहे जा सकते है।

इस प्रकार हमें इस उपासना के विकास के तीन स्वरूप देखने को मिलते हैं। प्रथम बौद्धिक चिन्तन, दूसरा स्वात्म या सहज अनुभव और तीसरा भक्ति या उपासना। प्रथम दोनों का व्यवहारिक रूप तीसरी क्रिया है। किन्तु कभी-कभी दूसरा और तीसरा रूप एक में ही मिलता है। प्रथम को दर्शन, दूसरे को रहस्यवाद और तीसरे को भक्ति-भावना कह सकते है। तीसरी क्रिया में दूसरो के द्वारा बताये ज्ञान, अनुभव और क्रिया पर विश्वास अधिक रहता है, स्वय अपना स्वानुभूत अनुभव कम। भक्ति का अर्थ है भजना या सेवा करना, प्रार्थना करना, गुण गाना आदि। यह यथार्थतः हम तभी कर सकते है जबकि हम जिसकी भक्ति करने जा रहे है उसको अच्छी तरह जानते हो, उसके स्वरूप से भली भाँति परिचित हो।

किन्तु एक बात और है। यथार्थ भक्त अपने आराध्य के प्रति अपन सहज निजी अनुभव को छोड नही बैठता। उसकी भक्ति में गुण-गान, नामसुमिरण के साथ-साथ सहज अनुभव भी चलता है। विना इसके भक्ति का आनन्द नही रहता और भक्ति का विकास रुक जाता है। अत. साधारणत दोनो ही साथ-साथ चलते है और बडे भक्तो में तो विशेष रूप से, क्योकि उनका स्वात्मा-

---

* देखिये पृ० ४७, ४८ काव्य में रहस्यवाद, लेखक रामचन्द्र शुक्ल।

नुभव ही उनकी भक्ति-भावना का अजस्र स्रोत होता है। हम यह भी कह सकते हैं कि रहस्यवादी सच्चा भक्त भी होता है, क्योंकि जिसका अनुभव हमने किया है, जिस तत्व को भावगम्य बनाया है, उसके साथ कोई न कोई सम्बन्ध जोड कर हम उसका सान्निध्य पाने, उसके गुण गाने के लिए अवश्य प्रयत्नशील रहते हैं। इसलिए रहस्यवादी भक्त होता है और सच्चा भक्त रहस्य-भावना से युक्त रहता है। जब हमारी दृष्टि विश्व के अन्तर्गत सर्वत्र व्याप्त परम सत्ता का दर्शन करती है, हृदय उसका अनुभव करता है तब धीरे-धीरे उसको और भी निश्चित स्वरूप देने का प्रयत्न किया जाता है। अत इसी रहस्य-भावना ने धीरे-धीरे अवतारवाद को भी जन्म दे दिया है। इस बात को प० रामचद्र शुक्ल ने भी माना है। उनका कथन है:—

"सर्ववाद को लेकर जब भक्त की मनोवृत्ति रहस्योन्मुख होगी, तब वह अपने हृदय को जगत के नाना रूपों के सहारे उस परोक्ष सत्ता की ओर ले जाता हुआ जान पडेगा। वह खिले फूल में, शिशु के स्मित आनन में, सुन्दर मेघमाला में, बिखरे हुए चन्द्र-बिम्ब में उसके सौन्दर्य का, गम्भीर मेघ गर्जन में, बिजली की कडक में, बज्रपात में, भूकम्प आदि प्राकृतिक विप्लवों में उसकी रौद्रमूर्ति का; ससार के असामान्य वीरो, परोपकारियो और त्यागियों में उसकी शक्ति, शील आदि का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार अवतारवाद का मूल भी रहस्यभावना ही ठहरती है।" ‡

ऊपर देखने से अवतारवाद या साकार स्वरूप की भावना, रहस्यवादी भावना के कुछ विरोध में पडती है, क्योंकि अवतारवाद से राम या कृष्ण अथवा अन्य अवतारो का एक निश्चित व्यक्तित्व हो जाता है, निश्चित रूप और गुण भी निश्चित से ही हो जाते हैं। उनका प्रभाव कुछ-कुछ हमारे ऊपर इसी प्रकार का पडता है जैसा कि एक महापुरुष का। ऐसी दशा में रहस्य की व्यापक भावना जागरूक नहीं रह पाती। हम उसके प्रति प्रार्थना, अनुराग सर्वत्र व्याप्त सत्ता के रूप में नही कर पाते है। सृष्टि के कण-कण में उसकी चेतना का अनुभव भूल जाते है। इसी लिए तुलसी और सूर को राम और कृष्ण के जीवन-वर्णन के समय पद-पद पर ईश्वरीय सत्ता का सकेत करना पड़ा है, क्योकि वे मनुष्य के रूप में अवतरित हुए है। बुद्धि, मनुष्य के रूप में ईश्वर को मानने के लिए तैयार नही, वह ईश्वर को ब्रह्माण्ड-व्यापक, सूक्ष्म तत्व के रूप में मानती है जो मानव के

---

‡ देखिये त्रिवेणी (रामचन्द्र शुक्ल)

अन्तर्गत है अवश्य, पर केन्द्रीभूत हो कर नही। क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता नही है। इसी लिए कबीर ने सगुण अवतारवाद के विरोध में कहा है।

"दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम कर मरम है आना"

राम उस ब्रह्म का नाम है जो सभी में व्याप्त है, सभी में रमण करता है। दशरथ के पुत्र राम उस भगवान् के 'राम' नामधारी एक महापुरुष हैं। इसलिए नाम सुमिरण या भक्ति करते समय उसी 'राम' नामी ब्रह्म या ईश्वर से ही तात्पर्य है, दशरथ-कौशल्या के पुत्र से तात्पर्य नही। अवतारवाद ने राम और कृष्ण के जीवन में अलौकिक लीलाओ का समावेश करके उन्हें ही पूर्ण ब्रह्म मान कर स्मरण किया है। तर्क और बुद्धि के लिए इस अवतारो की भक्ति में केवल इतनी गुंजाइश है कि जहाँ ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, वहाँ वह इन महापुरुषो में भी है जो कि अन्य मानवो से अधिक गुण-सम्पन्न हैं। अतः उन पर ही ध्यान केन्द्रित करना, उनकी ही भक्ति करना भी फलदायी है, क्योंकि भक्ति के अन्तर्गत होनेवाला मन का परिष्कार आनन्द-अवस्था का उद्घाटन बराबर उस दशा में भी होता है। पर सगुण अवतारो में श्रद्धा करना बहुत कुछ परम्परागत विश्वास का काम है, उनके रूप में हम ईश्वर को मूर्ति में केन्द्रित ही देख सकते है, युग-युग में नये-नये रूप में उसका अनुभव नही कर सकते है। अतः रहस्यभावना अवतारवाद का मूल-कारण होती हुई भी अवतारवाद के आरोपित हो जाने पर इसके विश्वास के साथ-साथ नष्ट हो जाती है। विशेष रूप से तब, जब हम राम और कृष्ण की भक्ति का केन्द्रस्थान मन्दिर और ठाकुरद्वारा आदि ही समझ बैठते है। उनकी सर्वव्यापिता भुला देते है। भक्ति के प्रचारार्थ अवतारों की पत्थर-लकडी की मूर्ति, चित्र आदि स्थापित कर साक्षात् दर्शन कराकर राम या कृष्ण की वैष्णव भक्ति का प्रचार बढाया गया। किन्तु इस अधिक प्रचार पायी भक्ति के पात्रों में भक्ति का वह तीखा अनुभव नही रह जाता जिस की उपस्थिति से ही भक्ति और रहस्य भावना एक हो जाती है।

यथार्थ में भारतीय सगुण भक्ति-भावना एक निश्चित श्रद्धा, विश्वास, सेवा और समर्पण की भावना है जैसी कि हम माता-पिता या गुरु के लिए रखते है। किन्तु जैसे हम माता-पिता-गुरु के परोक्ष में सर्वत्र उस भावना से ओत प्रोत नही रहते, ऐसे ही अवतारवाद की भक्ति भी हमारे सभी कामो में सभी स्थानो में अपना प्रभाव नही रखती। रहस्य-भावना अपने अन्तर्गत या विश्व के कण-कण में व्याप्त परमात्मा की सत्ता देखती है। अत रहस्य भावना का भक्त, सर्वत्र ही आत्मानुभूति से ओत प्रोत रहता है। उसका अनुभव नित्य-

नया-नया है। उसका विश्वास प्रतिक्षण अनोखे और सुदृढ़ आधार प्राप्त करता रहता है।

रहस्यभावना के अन्तर्गत व्यक्ति, पूर्ण शक्तिशाली, सौन्दर्यवान् ब्रह्म के अनुभव में तल्लीन रहना है। अतः उसके नित्य के क्षण प्रति-क्षण के नवीन अनुभव काव्य को विलक्षण सौष्ठव प्रदान करते है। भक्ति और रहस्य भावना में मोटे तौर से यही अन्तर है कि हम अवतारो की भक्ति के रूप में ईश्वर की अतीत में की गई लीलाओ का कल्पनागत अनुभव करते है और रहस्यभावना में हम अब भी पल-पल में उसकी लीला, उसके स्वरूप का अनुभव करते है। अत. भक्तिभावना और रहस्यभावना एक होते हुए भी एक रूढ़ि है दूसरी शाश्वत और सजीव। मूल में रहस्य और भक्तिभावना एक है, पर उनके विस्तार में यहाँ पर अन्तर हो गया है।

रहस्य भावना के दो स्वरूप है — प्रथम तो आत्मा का, परमात्मा या ईश्वर की लीला, उसके गुण या स्वरूप का नित्य नया आनन्ददायी अनुभव और दूसरा उस अनुभूत ज्ञान के आधार पर प्राप्त परमात्मा को आत्मसमर्पण। प्रथम को हम रहस्यदर्शन और दूसरे को हम रहस्यभक्ति कह सकते है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इसमें अपना निजी सहज अनुभव अपेक्षित है। अत रहस्यदर्शन की भावना के अन्तर्गत विश्वरूप ब्रह्म का जगत् के अनेक शक्ति, सौन्दर्य के प्रतीको में दर्शन करना सम्मिलित है और भक्ति के अन्तर्गत उसको अपनी आत्मा से सम्बन्धित करके अपनाव एव सगेपन का भाव प्राप्त कर भावात्मक उद्गार आ जाते है। दोनो ही काव्य की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण है और रहस्यवादी में कभी-कभी केवल एक और कभी दोनो ही स्वरूप देखने को मिलते है। इस-अनुभव के पूर्व और साथ-साथ सदैव आत्म-परिष्कार की क्रिया चलती रहती है। अत साधारण अवस्था में इसका अनुभव सम्भव नही। रहस्य की भावना को बहुत कुछ हम योगी की अनुभूति के समकक्ष रख सकते है। इसके अन्तर्गत आत्मा और विश्व के भीतर एक समन्वय या सामजस्य-सूत्र का दर्शन आवश्यक है, जो योग की समत्व भावना कही जा सकती है और जिस प्रकार योगी अनेक प्रकार की क्रियाओ द्वारा आत्म-परिष्कार करता रहता है, ऐसे ही रहस्यवादी बडे ही कठिन आचरण और नियमो का पालन करता है[†] इसी के फल स्वरूप उसे परमात्म-सम्बन्धी अनुभव प्राप्त होते है।

[†] "Mysticism is the art of finding a harmonious relationship to the whole of reality which man envisages. Humanly speaking man seeks to find peace with self and his universe. Mystical intuition establishes a perfect harmony of being and certainty

रहस्यवादी कविता गहरे अनुभवी भक्तो की अनुभूति का प्रकाशन है और यो तो इसके अन्तर्गत अनेक भाव आते है पर अधिकाश रहस्यवादी कवियो मे प्रेम की भावना सबसे अधिक तीखी माधुर्य भाव के अन्तर्गत ही रहती है और सुन्दर तथा सर्वगुण सम्पन्न ईश्वर को सबसे अधिक निकट हम प्रियतम के रूप मे ही देख सकते है। प्रेम की, स्त्री-पुरुष सम्बन्धी भावना सबसे अधिक गहरी होती है अतः इसी रूप में इसका अधिक विकास हुआ है। रहस्य-भावना के अन्तर्गत सभी भावनाएँ परमात्मा के प्रति बौद्धिक प्रेम में परिणत हो जाती हैं और इस प्रकार भावनाओ को उच्चता और अनुभूति को विलक्षण आनन्द प्राप्त होता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम रहस्यभावना का विश्लेषण करे तो देखेगे कि यह एक स्वभाविक भावना है। विश्व की बहुत सी बाते है जिन्हे हमारी बुद्धि समझ नही पाती है। हम यह भी देखते है पूर्ण कारण किसी एक बात का होते हुए भी परिणाम में प्रायः मनुष्य की आशा को चोट पहुँचानेवाली विपरीत बात हो जाया करती है। शक्तिशाली मनुष्य कभी-कभी अपने विस्तृत राज्य पर अधिकार होने पर भी अपने को नितान्त निर्बल पाते है। ऊपर बिखरा हुआ ब्रह्माण्ड जिसमें एक-एक ग्रह एक-एक ताराबिन्दु के रूप में है, हमारे सामने प्रति निशा को मानो हमारी आँखे खोलने के लिए खुल पडता है। कीचड़ और काँटो से घिरे हुए स्थल में अचानक कैसे कोमल और रग-बिरगे फूल हँस पडते है कि हमें इन सबके भीतर एक रहस्य का उद्घाटन सा दीखता है। मनुष्य बडा निर्बल है फिर भी अपनी छोटी शक्ति पर उसे कितना गर्व है। कभी-कभी अकारण ही पूर्ण स्वस्थ मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होते है और रोगी वृद्ध वर्षो घसिटते है। ये अनेक बातें अपने पीछे भौतिक कारणो के अतिरिक्त एक सत्ता का सकेत करती है और इस प्रकार का प्राप्त किया हुआ अनुभव सुदृढ और गभीर होने पर, हमें रहस्यभावना प्रदान करता है। इन सभी को समझने, इन व्यापारो पर हँसने-रीझने, खीझने की शक्ति हमारे अन्तर्गत है जिसे हम उस परमशक्ति से सम्बन्धित मानते है और बिखरे हुए विश्व के शक्ति, सौन्दर्य तथा अन्य गुणो के प्रतीको के बीच एक

---

of the universe It deepens man's sense of order in the self and expands it into universe, Thus even in intense action a calm aloofness is possible Mysticism combines a strenuos moral life with profound peace of mind and a delicate sense of beauty or order." Theory and Art of mysticism by Dr. R K Mukerji

पूर्ण व्यक्ति की कल्पना करते है या उसका आभास अनुभव करते है। हृदय इन क्षण भगुर स्वरूपो से अपना सम्बन्ध न जोड कर शाश्वत् सत्ता से अपना सम्बन्ध जोडने को आकुल हो उठता है और इस प्रकार रहस्यभावना का जन्म होता है।

रहस्यवादी कविता में परमात्मा के प्रति गम्भीर प्रेम व्यक्त होता है, किन्तु यह प्रेम परम्परागत विश्वास पर आधारित रूढि को लिये हुए इतना नही होता, जितना कि आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध का निजी और नवीन अनुभव लिये। स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध सबसे मधुर और अनुभूति सबसे तीखी होती है। अत अधिकाश रहस्वादी कविता में इसी सम्बन्ध का प्रकाशन होता है। रहस्वादी प्रवृत्ति, रहस्यवादी दृष्टि अन्य प्रकार की कविता में भी होती है। हिन्दी काव्य की निर्गुण-भक्ति-धारा के अन्तर्गत कही जानेवाली कविता रहस्यवादी है, क्योकि उसमें अवतार या साकार की भक्ति नही वरन्, निराकार एव सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म के प्रति प्रेम-प्रकाशन हुआ है। एक बार जब रहस्यवादी को ईश्वर का अनुराग प्राप्त हो जाता है, तब विश्व की वस्तुएँ उसकी दृष्टि में एक विशेष प्रकार के प्रकाश और गुणो से सम्पन्न दीखती है और सभी उस असीम शक्ति से सम्बन्धित जान पडती है। अथवा कभी-कभी सारा विश्व एक भ्रममय पथ पर अग्रसर होता जान पडता है और उसकी दृष्टि में ही सच्चा मार्ग दिखाई देता है। इस प्रकार रहस्यवादी दृष्टि और भावना के दो स्वरूप मिलते है—पहला तो वह जिसमें व्यक्ति अपने विशेष अभ्यास और आत्मशुद्धि के कारण परमात्मा का अनुभव अपने अन्तर्गत करने को समर्थ होता है और उसे इस बात की पूरी चेतना रहती है कि वह एक सच्चे रास्ते पर है और सारा विश्व झूठे रास्ते पर जा रहा है। दूसरा वह है जिसमें रहस्यवादी सम्पूर्ण विश्व को परमात्मा की शक्ति, प्रेम और सौन्दर्य से व्याप्त देखता है और वह स्वयं इनका अनुभव करता है। प्रथम भावना अधिक व्यक्तिगत अतएव अधिक तीखी है और दूसरी अधिक व्यापक और विशाल है।

हिन्दी कविता में दोनो प्रकार की भावनाएँ मिलती है। कबीर, जायसी और मीरा रहस्यवादी कविता के प्रमुख स्तम्भ रहे है और आधुनिक काल की कविता में भी इनका प्रभाव देखने में आता है। वर्तमान रहस्यवादी कविता में उपर्युक्त दोनो दृष्टियो का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। मीरा पर कबीर का भी प्रभाव है और कृष्णभक्ति का भी। कृष्ण से व्यक्तिगत सम्बन्धानुभूति का प्रकाशन मधुर भाव के रूप में होने से इसमें रहस्यवादी प्रवृत्ति दिखलाई देती है।

कबीर की कविता में सर्वोत्कृष्ट एव तीखी रहस्यभावना अपने सीधे और

स्वानुभूत ढग पर प्रकाशित मिलती है। कबीर का उद्देश्य परमात्मा के प्रेम में उसी प्रकार सराबोर रहना था, जैसे एक पत्नी अपने पति के प्रेम में रहती है। कबीर स्वय अपनी आत्मा को परमात्मा की पत्नी के रूप में मानते है और उनकी पवित्र बलवती आत्मा राम का प्रेम-सान्निध्य उसी प्रकार प्राप्त करती है जैसे कि एक पत्नी अपने पति का और इस प्रकार शाश्वत् आनन्द की धारा में बहती रहती है। अपनी इसी प्रेम-सम्बन्धी भावना की तीव्रता में कबीर ने सर्वोत्कृष्ट रहस्यात्मक कविता की सृष्टि की है। उनके गीत प्रेमानुभूति के आनन्द में पूर्ण-रूपेण घुले-मिले है जैसे इस प्रकार के गीत —भीजै चुनरिया प्रेम रस बूंदन ; प्रिय ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली आदि और इसी प्रकार परमात्मा से विलगता के कारण विरहानुभूति की भी गहरी भावना व्यक्त हुई है। इस प्रकार की कविता को हम 'मधुर भाव की भक्ति' के अन्तर्गत भी रख सकते है और इस प्रकार के पद कबीर की कविता में बहुत अधिक है।

दूसरी प्रकार के रहस्यवादी पद वे है जिनमें कबीर अपने भीतर अनहद नाद को सुनने अथवा ज्योतिर्विदु के दर्शन का आनन्द वर्णन करते है। यद्यपि इस प्रकार की कविता में हठयोग की अनेक क्रियाओ के द्योतक शब्द भी रहते है। और कबीर प्राय इडा, पिंगला सुषुम्ना-अनहद, आठ कमल, कुडल्नि‌नी और छ चक्रो में ही बात करते है, फिर भी कबीर का रहस्यवादी योग वही है जहाँ वे योगिक अभ्यासो से प्राप्त स्वानुभूत आनन्द का वर्णन सुन्दर शब्दो और मधुर प्रतीको में करते है। यह अनुभव अमृत में मग्न होने के समान है। कबीर कहते हैं —

> "गगन गरजि बरसै अमी, बादर गहिर गंभीर।
> चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर ॥"

कबीर ज्ञानी भक्तो में से है। ज्ञान के लिए वे अद्वैत दर्शन को स्वीकृत करते है और भक्ति के लिए मधुर भाव और योग में हठयोग से प्रभावित है। सूक्ष्म और पैनी दृष्टि रखनेवाले कबीर रूढिगत, नीरस, भक्ति करने-वालो के अन्धविश्वास और आत्मानुभवहीन क्रियाओ की तीव्र आलोचना करते है। उनका मुख्य उद्देश्य ईश्वर का अनवरत, शाश्वत् प्रेम प्राप्त करना है। अत वह प्रत्येक पद पर इस बात को स्पष्ट करते चलते है कि साधन साधन ही है, इन्हें साध्य समझने का भ्रम न करना चाहिए। इसी आवेश में ही वे अजपा जाप और अनहद नाद की आनन्दपूर्ण अवस्थाओ की भी आलोचना करते है :—

"जाप मरै, अपजा मरै, अनहद हू मरि जाय ।
राम सनेही ना मरै, ताहि काल नहिं खाय ॥

अत उनका उद्देश्य केवल 'राम का स्नेह' है। इसी को प्राप्त करने के अनेक प्रकार के साधन जुटाते है।

कबीर की रहस्यभावना की तीसरी विशेषता आत्मानुभूत रूप में सीधे ढग पर कथन है। यह जायसी की रहस्यभावना से भिन्न है जो कि रहस्य-भावना की स्वानुभूत दशा की ओर केवल सकेतमात्र करते है और मुख्य दृष्टि पद्मावत की कथा की ओर है। कबीर अपना रहस्यानुभव प्रथम पुरुष में ही वर्णन करते है और उनका ढग सीधा और स्पष्ट है। कबीर सीधे ढग से कहने की प्रेरणा में काव्य के कलात्मक पक्ष की भी परवाह नही करते। किन्तु फिर भी जो दुरूहता है वह दूसरे कारणो से है। कबीर जिस अनुभव का वर्णन करते है वह असासारिक है अत उसके प्रकाशन की कठिनाई के कारण ही यह दुरूहता है। जायसी को भी इसी से अन्योक्ति का सहारा लेना पडा। इस प्रकाशन की कठिनाई से कबीर की रहस्यवादी कविताओ में आई हुई चौथी विशेषता 'प्रतीकमयी भाषा' का प्रयोग है। परमात्मा के सान्निध्य का अनुभव विलक्षण होता है जिसके प्रकाशन की असमर्थता सभी रहस्यवादियो ने प्रकट की है। * कबीर भी प्राय जिसे 'गूँगे का गुड, गूँगे की शर्करा' † के रूप

---

*"Mysticism implies a silent enjoyment of God It is in this sense that mystical experience has often been regarded as ineffable. It is not without reason that Plato in his 7th Epistle, which is now regarded as his own genuine composition, says. "There is no writing of mine on this subject, nor ever shall be, It is not capable of expression like other branches of study. . If I thought these things could be adequately written down and stated to the world, what finer occupation could I have had in life than to write what could be of great service to mankind."

Page 1 Preface. Indian Mysticism by R D Rande

† "आतम अनुभव ज्ञान की, जो कोई पूछै बात ।
सो गूँगा गुड़ खाय कै, कहै कौन मुख स्वाद ॥ ७३ कबीर वचनावली ।
"अकथ कहानी प्रेम की कछु कही न जाई ।
गूँगे केरी सरकरा बैठे मुसकाई ॥" कबीर का रहस्यवाद, ४५ पद ।

स्वानुभूत ढग पर प्रकाशित मिलती है। कबीर का उद्देश्य परमात्मा के प्रेम में उसी प्रकार सराबोर रहना था, जैसे एक पत्नी अपने पति के प्रेम में रहती है। कबीर स्वय अपनी आत्मा को परमात्मा की पत्नी के रूप में मानते है और उनकी पवित्र बलवती आत्मा राम का प्रेम-सान्निध्य उसी प्रकार प्राप्त करती है जैसे कि एक पत्नी अपने पति का और इस प्रकार शाश्वत् आनन्द की धारा में बहती रहती है। अपनी इसी प्रेम-सम्बन्धी भावना की तीव्रता में कबीर ने सर्वोत्कृष्ट रहस्यात्मक कविता की सृष्टि की है। उनके गीत प्रेमानुभूति के आनन्द में पूर्ण-रूपेण घुले-मिले है जैसे इस प्रकार के गीत.—भीजै चुनरिया प्रेम रस बूंदन ; प्रिय ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली आदि और इसी प्रकार परमात्मा से विलगता के कारण विरहानुभूति की भी गहरी भावना व्यक्त हुई है। इस प्रकार की कविता को हम 'मधुर भाव की भक्ति' के अन्तर्गत भी रख सकते है और इस प्रकार के पद कबीर की कविता में बहुत अधिक है।

दूसरी प्रकार के रहस्यवादी पद वे है जिनमें कबीर अपने भीतर अनहद नाद को सुनने अथवा ज्योतिर्विदु के दर्शन का आनन्द वर्णन करते है। यद्यपि इस प्रकार की कविता में हठयोग की अनेक क्रियाओ के द्योतक शब्द भी रहते है। और कबीर प्राय इड़ा, पिंगला सुषुम्ना-अनहद, आठ कमल, कुडलिनी और छ चक्रो में ही बात करते है, फिर भी कबीर का रहस्यवादी योग वही है जहाँ वे योगिक अभ्यासो से प्राप्त स्वानुभूत आनन्द का वर्णन सुन्दर शब्दो और मधुर प्रतीको में करते है। यह अनुभव अमृत में मग्न होने के समान है। कबीर कहते है —

> **"गगन गरजि बरसै अमी, बादर गहिर गंभीर।**
> **चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर ॥"**

कबीर ज्ञानी भक्तो में से है। ज्ञान के लिए वे अद्वैत दर्शन को स्वीकृत करते है और भक्ति के लिए मधुर भाव और योग में हठयोग से प्रभावित है। सूक्ष्म और पैनी दृष्टि रखनेवाले कबीर रूढिगत, नीरस, भक्ति करने-वालो के अन्धविश्वास और आत्मानुभवहीन क्रियाओ की तीव्र आलोचना करते है। उनका मुख्य उद्देश्य ईश्वर का अनवरत, शाश्वत् प्रेम प्राप्त करना है। अत वह प्रत्येक पद पर इस बात को स्पष्ट करते चलते है कि साधन साधन ही है, इन्हें साध्य समझने का भ्रम न करना चाहिए। इसी आवेश में ही वे अजपा जाप और अनहद नाद की आनन्दपूर्ण अवस्थाओ की भी आलोचना करते है :—

"जाप मरै, अपजा मरै, अनहद हू मरि जाय।
राम सनेही ना मरै, ताहि काल नहिं खाय ॥

अत उनका उद्देश्य केवल 'राम का स्नेह' है। इसी को प्राप्त करने के अनेक प्रकार के साधन जुटाते है।

कबीर की रहस्यभावना की तीसरी विशेषता आत्मानुभूत रूप में सीधे ढग पर कथन है। यह जायसी की रहस्यभावना से भिन्न है जो कि रहस्य-भावना की स्वानुभूत दशा की ओर केवल सकेतमात्र करते है और मुख्य दृष्टि पद्मावत की कथा की ओर है। कबीर अपना रहस्यानुभव प्रथम पुरुष में ही वर्णन करते है और उनका ढग सीधा और स्पष्ट है। कबीर सीधे ढग से कहने की प्रेरणा में काव्य के कलात्मक पक्ष की भी परवाह नही करते। किन्तु फिर भी जो दुरूहता है वह दूसरे कारणो से है। कबीर जिस अनुभव का वर्णन करते है वह असंसारिक है अत. उसके प्रकाशन की कठिनाई के कारण ही यह दुरूहता है। जायसी को भी इसी से अन्योक्ति का सहारा लेना पडा। इस प्रकाशन की कठिनाई से कबीर की रहस्यवादी कविताओ में आई हुई चौथी विशेषता 'प्रतीकमयी भाषा' का प्रयोग है। परमात्मा के सान्निध्य का अनुभव विलक्षण होता है जिसके प्रकाशन की असमर्थता सभी रहस्यवादियो ने प्रकट की है।* कबीर भी प्राय जिसे 'गूंगे का गुड, गूंगे की शर्करा' † के रूप

---

*"Mysticism implies a silent enjoyment of God It is in this sense that mystical experience has often been regarded as ineffable. It is not without reason that Plato in his 7th Epistle, which is now regarded as his own genuine composition, says "There is no writing of mine on this subject, nor ever shall be, It is not capable of expression like other branches of study. . If I thought these things could be adequately written down and stated to the world, what finer occupation could I have had in life than to write what could be of great service to mankind."
Page 1 Preface. Indian Mysticism by R D Rande

† "आतम अनुभव ज्ञान की, जो कोई पूछै बात।
सो गूंगा गुड़ खाय कै, कहै कौन मुख स्वाद ॥ ७३ कबीर वचनावली।
"अकथ कहानी प्रेम की कछू कही न जाई।
गूंगे केरी सरकरा बैठे मुसकाई ॥" कबीर का रहस्यवाद, ४५ पद।

में मानते वा कहते आये हैं। कबीर ने इस अनुभव को प्रकट करने का उद्योग किया है, जगत की भाषा में जगत को अपना अनुभव बताया है, अत उन्होने उस अनुभव के समकक्ष जो भी लौकिक अनुभव पहुँचते हे उनके द्वारा अपने अनुभव को व्यक्त किया है। उन्होने इस प्रकार साम्य रखनेवाले अनुभवो को चुना है, जिनके द्वारा अलौकिक अनुभव का वे आभास दे सकते है। अत बहुतेरे शब्द अलौकिक अर्थो के प्रतीक बन गये है। रूपक तथा अन्योक्ति का प्रयोग कबीर प्राय करते है और रूपको के द्वारा कभी कभी काव्यात्मक सौन्दर्य और भी बढ जाता है।

"रे मन समुझि के लादि लदनियाँ' "ऊधौ गगन घटा घहरानी" आदि के अन्तर्गत मन का सौदागर और साधक का खेतिहर के रूप में वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसे शब्दो जैसे चुनरी (शरीर के लिए) हस (आत्मा के लिए) भँवरा (मन के लिए) भीजना (आनन्द के अनुभव के लिए) आदि शब्दो का प्रयोग खूब हुआ है। प० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने ग्रन्थ 'कबीर' में एक लम्बी सूची इस प्रकार के शब्दो की देते हुए कहते है —

"कबीरदास तथा अन्य परवर्ती सन्तो की उलटबासियाँ और योगशास्त्री रूपको को समझने के उपमान (या सकेत) काम के सिद्ध हुए है। नीचे उनका सग्रह दिया जाता है।"*

कुछ शब्द है जैसे—

सुषुम्ना—शून्य पदवी (शून्य मार्ग),राजपथ, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, स्मशान ब्रह्मनाडी, मध्य मार्ग, सरस्वती।

इडा—उलटीगगा, ब्रह्माण्ड में चढाई, श्वासा,ससार मुखी रागरूपी गगा का ब्रह्ममुखी होना।

संसार—समुद्र,

मन—शश, भौरा, चकवा

इस प्रकार—रूपक द्वारा जहाँ आत्मानुभूत भाव को सुन्दर बनाया है, वही शास्त्रीय शब्दो के व्यावहारिक प्रतीक ढूँढ कर उनको अधिक मनोहारी कर दिया है।

कबीर की रहस्यभावना की पाँचवी विशेषता आत्मा के अन्तर्गत ही परमात्मा की खोज पर ज़ोर है। यह शरीर दश द्वारो का भवन है और इस भवन के भीतर परमात्मा का निवास है। अत हम परमात्मा को अपने ही भीतर अपने भवन के अन्तर्गत ही ढूँढ सकते है। बाहर मन्दिर, मस्जिद आदि में

---

* कबीर, पृ० ८३, ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

उसको ढूँढना व्यर्थ है। कबीर परमात्मा को बाहर देखने में विश्वास नही करते है। उनके विचार से सम्पूर्ण वाह्य ससार माया का रूप है जो मनुष्य के ध्यान को अन्य बातो में बँटाकर परमात्मा की प्राप्ति के पथ से अलग करता है। वे कभी भी वसन्त कालीन फूलो की मनोहारी-शोभा, वर्षा के सरस दृश्यो के अन्तर्गत परमात्मा को खोजने का उपदेश नही देते। कबीर इन सभी को क्षणभगुर मानते है, अत. वे ध्यान देने योग्य नही है। वे बडी व्यग्रता के साथ परमात्मा को अपने शरीर के भीतर ढूँढने की बात कहते है —

"कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूँढ़ै बन माँहि।
ऐसे घट में पीव है, दुनिया जाने नाँहि॥"

इसी प्रकार

"मो कौं कहाँ ढूँढ़ै बन्दे, मै तो तेरे पास में।
ना मै मन्दिर ना मै मस्जिद, ना कावा कैलास में॥"

......इत्यादि।

और बाहर जाना व्यर्थ है —

"बागों ना जा रे, तेरी काया में गुलज़ार।"

......इत्यादि।

इस भावना से कबीर का अपनी आत्मा पर सुदृढ विश्वास बढता है। कबीर का आत्मानुभव बहुत ही अधिक था और परमात्मा की अपने अन्तर में खोज के कारण वह एक शाश्वत् चेतना प्राप्त कर सके थे और परमात्मा के सान्निध्य का अटूट आनन्द भी उन्हें मिला था। ये सभी बातें मिल कर कबीर की रहस्यभावना को दार्शनिक दृष्टि से सुदृढ, शास्त्रीय विचार से पक्की और आत्मानुभूति द्वारा सरस बनाती है। कबीर का रहस्यवाद सीधा, सहज और स्वानुभूत है।

जायसी की रहस्यभावना

जायसी की रहस्यात्मक दृष्टि कबीर की दृष्टि से भिन्नता रखती है। जायसी के रहस्यवाद पर मायावाद का प्रभाव नही है, वरन् वह इस्लाम के एकेश्वरवाद से प्रभावित है। प्रकृति और वाह्य संसार कबीर की भाँति जायसी के लिए माया नही है, वरन् परमात्मा का आभास है। उसकी इच्छा और चेष्टा का प्रतिबिंब है। प्रकृति की सुन्दरता में परमात्मा की सुन्दरता छायी है और सभी प्रकृति परमात्मा के आनन्ददायी सम्पर्क में मग्न होने का प्रयत्न कर रही है —

"सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरहिं लेइ ।
पांव छुवै मगु पावौं, इहि मिस लहरैं लेइ ।।"

अपने इस प्रयत्न में प्रकृति के पदार्थ, प्रकृति के तत्व मनुष्य के समान ही हैं जो कि स्वयं परमात्मा से बिलगाव का अनुभव करते हैं और उसके प्रभाव से प्रभावित हैं —

"राते बिम्ब भीजि तेहि लोहू । परवर पाक फाट हिय गोहूँ ।"

तथा :—

"नयनन बान बेधि ओहि राखी । साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ।"

इत्यादि ।

जायसी की रहस्यभावना, प्रकृति के भावो का व्यापक स्पन्दन देखती है और उन्ही भावो के चित्रण का प्रयत्न इनकी रहस्यात्मक कविता का प्राण है । इस प्रकार जायसी को हम कबीर की भांति दार्शनिक रहस्यवादी अथवा मधुर भाव के भक्त नही कह सकते, वे तो प्रकृति के रहस्यवादी हैं, क्योकि उनकी दृष्टि में प्रकृति सुन्दरता, इच्छा, भावनाओ और चेतना से उसी प्रकार युक्त है जैसे कि मनुष्य है । जायसी प्रकृति को केवल भावो से भरी हुई ही नही देखते वरन् स्वय भी उन भावो से प्रभावित होते हैं । प्रकृति मनुष्य की चिरन्तन सहचरी है, अतः मनुष्य के भावो का उस पर भी व्यापक प्रभाव पड़ता है । मनुष्य के आनन्दोत्सव में वह पुलकित और प्रसन्न तथा उसके दुख में गहरे विषाद से घिरी रहती है । कुछ इसी प्रकार की भावना उस परम्परा के आधार में भी है जिसमें सुख में प्रकृति सुखवर्धक और दुख में दुख को बढानेवाली चित्रित की जाती है । जिसे शास्त्रीय शब्दो में उद्दीपन विभाव कहते हैं और प्रायः कवि अपने वर्णन में उसका समावेश करते हैं । पर वहाँ प्रकृति के तत्व तथा व्यापार उत्प्रेक्षापूर्वक वैसे चित्रित किये गये हैं, यहाँ जायसी उसे यथार्थ अनुभूतियो का भडार ही मानते हैं । यह जायसी के रहस्यवाद की एक बडी विशेषता है ।

इस प्रकार की जायसी की भावुकता बडी व्यापक और विशद प्रभावशाली है । यह भावना कबीर की भावना से मौलिक विभिन्नता उपस्थित करती है, जो कि सत्य के दर्शन केवल मन के भीतर ही करते हैं नित्य-प्रति, प्रतिपल बदलने वाले प्रकृति के विस्तृत सौन्दर्यशाली दृश्यो में नही । इस प्रकार कबीर के व्यक्तिगत तीखे आत्मानुभव के विपरीत जायसी में हमें सार्वभौम भावात्मकता और प्रकृति-प्रेम मिलता है, जो उनको अधिक विस्तृत हृदय का, स्नेही और भावुक व्यक्ति के रूप में प्रगट करता है और जायसी के रहस्यवाद में काव्यात्मक तथ्यो को प्रचुरता के साथ उपस्थित होने का अवसर देता है ।

इसी के साथ ही साथ हम देखते हैं कि जायसी का प्रयत्न कबीर की भाँति आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध सीधे ढग से व्यक्त करना उतना नही, जितना आत्मा और विश्व का तथा विश्व और विश्वात्मा का सामजस्य ढूँढना है। यह प्रवृत्ति उन्हें व्यापक रहस्यद्रष्टा बना देती है। रहस्य-भावना के अन्तर्गत आत्मा और विश्व के अन्तर्गत सामजस्य स्थापित करने का यह भाव विशेष रूप से रहता है, वरन् कोई-कोई विद्वान् तो इसी सामजस्य ढूँढने की कला को ही रहस्यवाद कहते हैं। * जायसी का प्रयास सामजस्य-भावना को ही स्थापित करना है। पद्मावत ग्रथ में इसके साथ-साथ प्रमुख रूप से पद्मावती की कथा भी चलती है। अतः इस भावना की ओर सकेतात्मक निर्देश हैं। जो स्पष्ट हैं और कला की दृष्टि से कथानक के विकास में बाधक सिद्ध होते हैं। इन निर्देशो के कुछ उदाहरण देखिये :—

पद्मावती श्री पचमी के अवसर पर उपवन में स्थित मन्दिर में पूजा के हेतु गई, जहाँ पर रतनसेन पद्मावती की प्रतीक्षा कर रहा था। पद्मावती पर दृष्टि पढते ही वह चेतनाहीन हो गया और न उससे मिल सका न बात कर सका। जब वह फिर सचेत हुआ तब वह उसके सौन्दर्य की व्यापकता सभी जगह देखता हुआ कहता है :—

"आइ बसन्त जो छपि रहा, होइ फूलन के भेस।
केहि विधि पावौं भौर होइ, कौन गुरू उपदेश॥"

यह पद पद्मावती और रतनसेन का वर्णन करता हुआ साधक की परमात्मा से मिलन और बिछुड जाने पर फिर प्रयत्नशील होने की दशा पर प्रकाश डालता है। बसन्त, फूल, भौरा और गुरु शब्द, पद्मावती, प्रकृति, रतनसेन और हीरामन पर उतनाही लागू होता है, जितना परमात्मा, प्रकृति, साधक और गुरू पर। इस प्रकार के सकेत प्राय. जायसी के पद्मावत में मिलते हैं। कुछ और देखिये :—

---

*"Mystism is the art of finding harmonious relationship, to the whole reality which man envisages. Humanly speaking, man seeks to find peace with self and this universe. Mystical intuition establishes a perfect hormony of being and certainty of universe It deepens man's sense of order in the self and expands it into the universe."

P. 260, Theory and Art of Mysticism by Dr. R. K. Mukerji (as quoted before)

"बेधि रहा जग वासना, परिमल मेद सुगन्ध।
तेहि अरघानि भौंर सब, लुबुधे तजहिं न गंध॥ *

इसमें पद्मावती के सौन्दर्य के आकर्षण का प्रभाव अनेक राजाओं पर दिखाने के साथ-साथ ईश्वर का प्रकृति में तथा विश्व में व्याप्त सौन्दर्य का प्रभाव साधक व शुद्धात्मा पर दिखाना भी इष्ट है। ऐसे ही और उदाहरण हैः—

"भौंर जो मनसा मानसर, लीन्ह कँवल रस आइ।
घुन जो हियाव न कै सका, झूर काठ तस खाइ॥" १० †

"दारिउ दाख लेइ रस, आम सदाफर डार।
हरियर तन सुअटा कर, जो अस चाखनहार॥" ६ ‡

"पवन झकोरे होइ हरष, लागे सीतल बास।
धनि जानै यह पवन है, पवन सो अपने बास॥" ७ .

"गिरि समुद्र ससि मेघ रवि, सहि न सकहिं वह आगि।
मुहमद सती सराहिये, जरै जो अस पिउ लागि॥" १५ ⌒

फिर प्रकृति के सौन्दर्य का चरम सौन्दर्यमय से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न देखिये, जो जायसी के पद्मावती के सौन्दर्य वर्णन में स्पष्ट है।

"नयन जो देखा कँवल भा, निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नगहीर॥"

नीचे के दोहे में हठयोगी साधना की ओर सकेत है, जिसमें साधक की, तुलना समुद्र में डुबकी लगानेवाले 'मरजीवा' से की गई है। साधक हृदय के तलाव में परमात्मा रूप नग को ढूंढने के लिए डुबकी लगाते हैंः—

"नग अमोल तेहि तालहिं, दिनहिं बरै जस दीप।
जो मरजिया होइ तहाँ, सो पावै वह सीप॥"

जायसी के 'भावात्मक रहस्यवाद' में प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा है। व्यक्तिगत प्रेम के अन्तर्गत धीरे-धीरे आत्मत्याग बढता जाता है और प्रेम की बहुत ऊँची भावना आती जाती है। भावात्मक रहस्यवाद पर एक विद्वान् का कथन देखिये.—"भावात्मक रहस्यवाद इस प्रकार व्यक्तिगत प्रेम से प्रारम्भ

---

* पृ० ५५, जायसी ग्रन्थावली।

† पृ० ७६ जा० ग्र०।

‡ पृ० १६६ जा० ग्र०।

: : पृ० १६६ जा० ग्र०।

⌒ पृ० १७८ जा० ग्र०।

होता है। लौकिक प्रियतम मानवस्वभाव के नित्यप्रति के व्यवहार से बहुत ऊँचे उठ जाता है और सौन्दर्यात्मक अनुभूति या रमणीयता का आनन्द उकसाता है और वाद को आनन्ददायी ध्यान का प्रतीक बन जाता है। धीरे-धीरे यह प्रतीक लौकिकता खो देता है और प्रकाश से आभूषित ऐसा सौन्दर्य ग्रहण करता है जो कि कभी भी पृथ्वी और समुद्र पर नही था। वह अब भी प्रिय है, किन्तु लौकिक प्रेमी और प्रिय का अब कायापलट हो गया है। मै अकेला प्रेमी और तू अकेला सुन्दर है। और यदि तत्वतः सभी सौन्दर्य एक है तो तू ही अकेले सुन्दर है और यदि सभी प्रेम एक है तो मै ही अकेला प्रेमी हूँ।"*

यह प्रेमी की भावना रह जाती है। इस भावना का दर्शन हमें आधुनिक हिन्दी काव्य के अन्तर्गत भी होता है। जायसी में यद्यपि व्यक्तिगत रहस्य-भावना के दर्शन नही होते, फिर भी भावात्मकता और प्रेम का दर्शन हमे वडी उच्च कोटि का मिलता है। रतनसेन और पद्मावती के सम्मिलन के रूप में इसी प्रकार की भावना व्यक्त हुई है। रतनसेन सौन्दर्य से आकृष्ट होता है और धीरे-धीरे त्याग के पथ पर वढता हुआ सच्चे प्रेम के उपासक के समान जीवन भी समर्पण करने को उद्यत होता है और अन्ततः अनेक बाधाओ को झेलता हुआ उसके साथ मिलकर एक हो जाता है। रहस्य की चेतना के अन्तर्गत प्रेम और सौन्दर्य का भेद नही रहता है। प्रिय ही सबसे वढकर सौन्दर्यशाली है।

यह अब भर जाता है। जायसी जहाँ एक ओर पद्मावती के चरम सौन्दर्य का वर्णन करते है, वहाँ ही उसके प्रति साधक रूप में रतनसेत के अटूट और

---

* "Emotional mysticism thus begins with personal affection. The earthly beloved becomes too good for human nature's daily food arouses aesthetic delight and the subject and later the symbol of aesthetic contemplation. Gradually the symbol empties itself of earthly associations and has a glorious vision of beauty bedecked with light that never wason sea and land. It is still the beloved, but both the earthly lover and the beloved are now transformed. I am the lover and thou art the beautiful If all the beauties of the universe are in essence one, Thou art the one Beautiful. As all love is in essence one, I am the one lover."

P. 114, Theory and Art of Mysticism, by Dr. R. K Mukerji

गभीर प्रेम का भी चित्रण है। इस प्रकार की रहस्यभावना में उत्कृष्टतम प्रेम का वर्णन ही एक प्रधान विशेषता है। उस प्रेम की दशा के अन्तर्गत साधक किस प्रकार की यातना सहता है, यह नीचे की पंक्तियो से स्पष्ट है:—

"मुहमद चिनगी प्रेम कै, सुनि महि गगन डेराइ।
धनि विरही औ धनि हिया, जहँ असि अगिन समाइ॥"†

इस प्रेममार्गी साधक की परीक्षा भी बडी कठिन होती है। पूर्ण आत्म-त्याग ही उसकी सफलता का प्रमाण है। कबीर ने भी कहा है :—

"सीस उतारै भुँइ धरै, तापर राखै पाँय"

तब कही प्रेमी प्रिय से भेंट करने की सामर्थ्य पा सकता है। पद्मावती की भी रतनसेन की प्रेम-परीक्षा उसी कोटि की है। वह कहती है :—

"हौं रानी पद्मावती, सात सरग पर बास।
हाथ चढ़ौं मैं तेहि कै, प्रथम करै अपनास॥"

किन्तु जब प्रेमी उस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, अनेक यातनाओ के पार जाकर जब वह अपने को मिटा कर सर्वत्र प्रिय का ही रूप दर्शन करता है, तब तो प्रिय भी प्रेमी के प्रति सहानुभूति ही नही, अनुराग रखने लगता है। पद्मावती रतनसेन की साधना सफल होने और त्याग की चरमसीमा पर पहुँचने की अवस्था में कहती है :—

"तुम जिउ, मैं तन जौ लहि मया। कहँ जो जीव करै सो कया॥
जौ सूरज सिर ऊपर, तौ रे कँवल सिर छात।
नाँहि त भरे सरोवर, सूखे पुरइन पात॥"

प्रिय की इसी मनोवृत्ति के साथ ही जायसी के प्रेममय भावात्मक रहस्य भावना की सफलता है।

इसके अतिरिक्त जायसी का रहस्यवाद कबीर के रहस्यवाद की भाँति अनेक हठयोग की सैद्धान्तिक व परम्परागत शब्दावली से युक्त नही है। यद्यपि कही-कही उन्होने भी कयागढ, कँवल, सूर्य-चन्द्र आदि हठयोग के शब्दो का प्रतीक रूप में प्रयोग किया है, परन्तु ये शब्द हमारा ध्यान न आकृष्ट ही करते है और न प्रवाह में बाधा ही पहुँचाते है और रहस्यात्मक अनुभव का प्रकाशन बड़ी सरलता, स्वाभाविकता और सजावट के साथ चलता रहता है। पद्मावत की कथा में जायसी का प्रयास रहस्यवादी साधक की साधना

---

†पृ० १०१, जा० ग्र०।

और सिद्धि का वर्णन है और इसके साथ ही साथ आराध्य की मनोवृत्ति का भी कल्पनागत उद्‌घाटन है। पद्मावती, रतनसेन, अलाउद्दीन, सुआ आदि कहानी के पात्र केवल जनसाधारण में प्रचारार्थ बनाये गये है। यथार्थ उद्देश्य प्रेमी साधक के अनुभवो का प्रकाशन ही है, जो कहानी के अन्त में अन्योक्ति को खोलने पर पूरा प्रकट हो जाता है :—

"तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरू सुआ जेहि पथ लखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती दुनिया कर धधा। पावा सोइ न जेहि चित बधा।
राघव चतन सोइ शैतानू। माया अलाउदी सुलतानू॥"

इस प्रकार जायसी अपने प्रेम-भावना भरे अतिशयोक्तिपूर्ण, काव्यात्मक एव रमणीय वर्णन-द्वारा हमारी भावनाओ को अधिक मोहित कर लेते है, जितना कि कबीर अपने आनन्द के विश्लेषण-द्वारा नही कर पाते। जायसी का विशाल दृष्टिकोण, ऊँची कल्पना, तीखी और गहरी भावुकता, विशद और विस्तृत वर्णन तथा प्रभावशाली चित्रण के सहयोग से जो प्रभाव डालते है वह कबीर अपने तीव्र और गभीर रहस्यात्मक अनुभव के विश्लेषण, दार्शनिक दृष्टिकोण के द्वारा नही। क्योकि कबीर का प्रकाशन हठयोग के शब्दो से भरपूर है। किन्तु कबीर ने प्रगीतात्मक प्रवृत्ति और सगीत के प्रभाव के कारण अपने रहस्यात्मक गीतो को स्मरणीय बना दिया है। कबीर की साखी, पद और पक्तियाँ जहाँ साधारण जनो की जिह्वा पर नाचती रहती है, वहाँ जायसी की पूर्ण पद्मावती की प्रेम कथा ही प्रचार पा सकी है और प्रचलित कहानी रहस्यात्मक भावना से सर्वथा मुक्त है। प्रचार की दृष्टि से कबीर की रहस्यभावना का प्रभाव अधिक है, जायसी रहस्यवादी उतने नही जितने कवि है। इस प्रकार व्यक्तिगत रहस्यात्मक अनुभव और प्रचार व प्रभाव दोनो के कारण रहस्यभावना के क्षेत्र में कबीर ऊँचे रहते है, यद्यपि भावुकता और काव्य की दृष्टि से जायसी की रचना अधिक रमणीय है।

कबीर और जायसी दोनो ही हिन्दी काव्य की रहस्यभावना के प्रतिनिधि कवि है और उनके इस अध्ययन-द्वारा हिन्दी की प्रमुख रहस्यधारा का परिचय दिया गया है। मीरा की रहस्यभावना सगुण भक्ति और रहस्यभावना दोनो को लिए है। वे कृष्ण की भक्ति में व्यक्तिगत रूप से तन्मय है और अपने को कृष्ण की स्त्री के रूप में मानती है, जिसमें माधुर्य भक्ति का विशेष अवकाश है ; किन्तु व्यक्तिगत विरह और सम्मिलन के अनुभवो का समावेश

गभीर प्रेम का भी चित्रण है। इस प्रकार की रहस्यभावना में उत्कृष्टतम प्रम का वर्णन ही एक प्रधान विशेषता है। उस प्रेम की दशा के अन्तर्गत साधक किस प्रकार की यातना सहता है, यह नीचे की पक्तियो से स्पष्ट है —

"मुहमद चिनगी प्रेम कै, सुनि महि गगन डेराइ।
धनि बिरही औ धनि हिया, जहँ असि अगिन समाइ ।।†

इस प्रेममार्गी साधक की परीक्षा भी बडी कठिन होती है। पूर्ण आत्म-त्याग ही उसकी सफलता का प्रमाण है। कबीर ने भी कहा है :—

"सीस उतारै भुँइ धरै, तापर राखै पाँय"

तब कही प्रेमी प्रिय से भेंट करने की सामर्थ्य पा सकता है। पद्मावती की भी रतनसेन की प्रेम-परीक्षा उसी कोटि की है। वह कहती है :—

"हौं रानी पद्मावती, सात सरग पर बास।
हाथ चढ़ौं मैं तेहि कै, प्रथम करै अपनास ।।"

किन्तु जब प्रेमी उस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, अनेक यातनाओ के पार जाकर जब वह अपने को मिटा कर सर्वत्र प्रिय का ही रूप दर्शन करता है, तब तो प्रिय भी प्रेमी के प्रति सहानुभूति ही नही, अनुराग रखने लगता है। पद्मावती रतनसेन की साधना सफल होने और त्याग की चरमसीमा पर पहुँचने की अवस्था में कहती है :—

"तुम जिउ, मैं तन जौ लहि मया। कहँ जो जीव करै सो कया ।।
जौ सूरज सिर ऊपर, तौ रे कँवल सिर छात।
नाँहि त भरे सरोवर, सूखे पुरइन पात ।।"

प्रिय की इसी मनोवृत्ति के साथ ही जायसी के प्रेममय भावात्मक रहस्य भावना की सफलता है।

इसके अतिरिक्त जायसी का रहस्यवाद कबीर के रहस्यवाद की भाँति अनेक हठयोग की सैद्धान्तिक व परम्परागत शब्दावली से युक्त नही है। यद्यपि कही-कही उन्होने भी कयागढ, कँवल, सूर्य-चन्द्र आदि हठयोग के शब्दो का प्रतीक रूप में प्रयोग किया है, परन्तु ये शब्द हमारा ध्यान न आकृष्ट ही करते है और न प्रवाह में बाधा ही पहुँचाते है और रहस्यात्मक अनुभव का प्रकाशन बडी सरलता, स्वाभाविकता और सजावट के साथ चलता रहता है। पद्मावत की कथा मे जायसी का प्रयास रहस्यवादी साधक की साधना

---

†पृ० १०१, जा० ग्र०।

और सिद्धि का वर्णन है और इसके साथ ही साथ आराध्य की मनोवृत्ति का भी कल्पनागत उद्घाटन है। पद्मावती, रतनसेन, अलाउद्दीन, सुआ आदि कहानी के पात्र केवल जनसाधारण में प्रचारार्थ बनाये गये है। यथार्थ उद्देश्य प्रेमी साधक के अनुभवो का प्रकाशन ही है, जो कहानी के अन्त में अन्योक्ति को खोलने पर पूरा प्रकट हो जाता है :—

"तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरू सुआ जेहि पथ लखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती दुनिया कर धधा। पावा सोइ न जेहि चित बधा।
राघव चतन सोइ शैतानू। माया अलाउदी सुलतानू॥"

इस प्रकार जायसी अपने प्रेम-भावना भरे अतिशयोक्तिपूर्ण, काव्यात्मक एव रमणीय वर्णन-द्वारा हमारी भावनाओ को अधिक मोहित कर लेते है, जितना कि कबीर अपने आनन्द के विश्लेषण-द्वारा नही कर पाते। जायसी का विशाल दृष्टिकोण, ऊँची कल्पना, तीखी और गहरी भावुकता, विशद और विस्तृत वर्णन तथा प्रभावशाली चित्रण के सहयोग से जो प्रभाव डालते है वह कबीर अपने तीव्र और गभीर रहस्यात्मक अनुभव के विश्लेषण, दार्शनिक दृष्टिकोण के द्वारा नही। क्योकि कबीर का प्रकाशन हठयोग के शब्दो से भरपूर है। किन्तु कबीर ने प्रगीतात्मक प्रवृत्ति और सगीत के प्रभाव के कारण अपने रहस्यात्मक गीतो को स्मरणीय बना दिया है। कबीर की साखी, पद और पंक्तियाँ जहाँ साधारण जनो की जिह्वा पर नाचती रहती है, वहाँ जायसी की पूर्ण पद्मावती की प्रेम कथा ही प्रचार पा सकी है और प्रचलित कहानी रहस्यात्मक भावना से सर्वथा मुक्त है। प्रचार की दृष्टि से कबीर की रहस्यभावना का प्रभाव अधिक है, जायसी रहस्यवादी उतने नही जितने कवि है। इस प्रकार व्यक्तिगत रहस्यात्मक अनुभव और प्रचार व प्रभाव दोनो के कारण रहस्यभावना के क्षेत्र में कबीर ऊँचे रहते है, यद्यपि भावुकता और काव्य की दृष्टि से जायसी की रचना अधिक रमणीय है।

कबीर और जायसी दोनो ही हिन्दी काव्य की रहस्यभावना के प्रतिनिधि कवि है और उनके इस अध्ययन-द्वारा हिन्दी की प्रमुख रहस्यधारा का परिचय दिया गया है। मीरा की रहस्यभावना सगुण भक्ति और रहस्यभावना दोनो को लिए है। वे कृष्ण की भक्ति में व्यक्तिगत रूप से तन्मय है और अपने को कृष्ण की स्त्री के रूप में मानती है, जिसमें माधुर्य भक्ति का विशेष अवकाश है, किन्तु व्यक्तिगत विरह और सम्मिलन के अनुभवो का समावेश

होने के कारण वह रहस्यभावना के भी समीप आ जाती है। मीरा की रहस्य-भावना में प्रेम की भावात्मक अभिव्यक्ति ही देखने को मिलती है जिसमें काव्य का सुन्दर रूप है, किन्तु हिन्दी काव्य की रहस्यवादी भावना के प्रतीक के रूप में मीरा का स्थान नगण्य है। इसके कबीर और जायसी दोही सुदृढ स्तम्भ हैं जिनके अनेक अन्य अनुयायी उस भावना को आधुनिक युग तक अधिक विकास देते हैं।

हिन्दी काव्य में प्रगीतात्मकता और उसके विविध रूप

प्रगीतात्मकता काव्य की एक प्रधान विशेषता है। प्रगीतात्मकता की मनोदशा में कवि अपने व्यक्तित्व के सबसे समीप होता है। इसके अन्तर्गत मनोभावना के साथ-साथ ही शैली अर्थात् कथन का ढग भी विशेष महत्व-पूर्ण है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत कवि सगीतमयी, मधुर रचना के सहारे अपनी निजी अनुभूतियो का प्रकाशन करता है, वह अपने ही व्यक्तित्व का विश्लेषण करता तथा अपने स्मरणीय क्षणो का सजीव चित्रण करता है। उसकी कल्पना या तो अपने ही अभ्यतर में डूब कर विश्व के सामने अपनी भावनाओ और अनुभूतियो का भडार खोलती है अथवा वह आकाश में उडकर प्रकृति के बीच विचरण कर प्रकृति के पदार्थो में आत्मीयता का अनुभव करती है और उन्ही में छिपी भावनाओ को प्रगट करती है। कवि के सचेतन व्यक्तित्व का अपनी कल्पना पर पूरा और सुदृढ अधिकार रहता है और वह प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना को अपनी व्यक्तिगत भावना के रग से रँगी हुई देखता है। जो कुछ भी वह देखता है उसमें आत्मीयता का अनुभव करता है और वह जो कुछ भी लिखता है, गाता है वह उसकी हृदय से निकलती हुई स्वानुभूति से स्पदित स्वरलहरी होती है। इस प्रवृत्ति में कवि भावो में तन्मय होकर लिखता है, इसी कारण से प्रगीतात्मक काव्य सबसे अधिक प्रभावशाली होता है। कवि अपने दुख-सुख के अनुभवो को सीधे ढग से अपना कह कर व्यक्त करता है, किन्तु वे उसके होते हुए भी सारी मानवता के होते है। क्योकि तीव्र सात्विक अनुभूति की अवस्था में एक सहृदय मानव दूसरे से अधिक भिन्न नही होता है।

जब प्रगीत भावना काम करती है, तब कवि अपनी बातें कहने के लिए विकल हो उठता है। बिना प्रकाशित किये उसकी अनुभूति छटपटाती है, किसी परिस्थितिवश यदि वह उन्हें मौन रूप से पिये रहता है, तो दूसरे समय वे उसी या दूसरे रूप में फूट पडती है। इस भावना का आवेश तब समझना

चाहिए जब कि बहुत अधिक देर तक ध्यानमग्न न रहकर बराबर एक के बाद दूसरे भाव निकलते जाते है और उनके निकल जाने पर एक हल्केपन की स्वस्थता और शान्ति प्राप्त होती है, किन्तु बिना उनको प्रगट किये उसे चैन नही। यही मनोवृत्तियाँ जब समय पर प्रकाशनन पाकर भीतर ही जमती जाती है तो एक स्थायी मनोवृत्ति को जन्म देती है।

प्रगीतात्मक काव्य में भावानुभूति बडी ही जोरदार होती है। इसके अतिरिक्त कवि अपने भाव बहुधा प्रथम पुरुष में अपने ही मुख से सीधे ढग से व्यक्त करता है। अन्य पात्रो के द्वारा भावप्रकाशन उतना अभीष्ट नही होता है परन्तु नाट्य काव्य में जो कुछ भी कवि कहता है, वह पात्रो के द्वारा ही कहता है। नाट्य काव्य में कवि अपनी कल्पना-द्वारा पात्रो की सृष्टि करता है और उनमें से प्रत्येक पात्र के व्यक्तित्व में अपना व्यक्तित्व डाल कर, अपना व्यक्तित्व छिपा देता है और पात्र ही भाव-प्रकाशन करता है। प्रबन्ध काव्य में कवि को कथाकार के रूप में भी आना पडता है और नाट्य काव्य के पात्रो के रूप में भी, जिसमें दोनो ही रूपो में कल्पना की सजगता विशेष रूप से आवश्यक है।

प्रबन्ध काव्य में कवि को कही तो कथा का पात्र बनना पड़ता है और कही दर्शक; इस प्रकार दोनो ही दशाओ में उसे अपने व्यक्तित्व को घुला देना होता है, इनमें उसे अपने को दूर छोडकर पात्र और दर्शक को परिस्थितियो में अपने को डालकर अपनी परिस्थितियो, अपनी भावनाओ और अपने व्यक्तित्व को पूर्णत त्याग देना होता है। इसी 'आत्मविस्मृति' के भीतर ही प्रगीतकाव्य तथा अन्य प्रकार के काव्यो का अन्तर छिपा रहता है। जहाँ नाट्य और प्रबन्ध काव्य में आत्मविस्मृति, कवि के लिए प्रधान गुण और प्रमुख आवश्यकता है, वहाँ प्रगीतात्मक काव्य में प्रखर "आत्म-चेतना" काम करती है। कवि, श्रोता, पाठक और विश्व को अपने विषय में बताता है, ससार के विषय में नही। नाट्य और प्रबन्ध काव्य में कवि निरपेक्ष और तटस्थ कलाकार, है पर प्रगीत काव्य में वह स्पर्शमात्र से झकृत हो जानेवाला गायक है, कोमल भावनाओ से भरा तनिक छेड़ने से ही हँसने और रोनेवाला व्यक्ति है। वह भावुक है। वह चाहे स्वच्छन्द प्रकृति का ही वर्णन क्यो न करे, उसमें अपनी भावनाएँ भरी देखता है। सम्पूर्ण जगत् मानो उसी की बात कहता है। प्रबन्ध और नाट्य काव्यो में यदि कवि अपनी बात भी कहता है तो दूसरे के मुख से, अत. कवि का व्यक्तित्व छिपा और चेतना कुठित रहती है, किन्तु प्रगीत काव्य में यह बात नही है।

इसमें तो अपना ही और अपनीही परिस्थितियो से उत्पन्न भाव वह प्रकट करता है, उसकी व्यक्तिगत भावना इतनी व्यापक होती है कि उसके अन्तर्गत सभी अपनी भावना का प्रतिबिम्ब पा लेते है । उसकी विशेषता तीव्रता में रहती है ।

कुछ कवि ऐसे होते है जो प्रबन्ध और प्रगीत दोनो क्षेत्रो में बडे कुशल और सिद्धहस्त होते है । हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट कवि तुलसीदास में हम यही बात देखते है । वे अपने ग्रन्थ "रामचरितमानस" में तो प्रबन्ध क्षेत्र के विधाता है । उसमें तुलसी की अपनी भावना क्या है, यह बताना सोच-विचार के बाद ही सभव है । वे अपने सभी भाव रामचरितमानस के पात्रो के भाव बनाकर ही रखते है; वरन् यह कहना चाहिए कि वे उन्ही के उपयुक्त भावो में अपने भाव भी घुला-मिला देते है । उसमें वे कथाकार और अभिनेता दोनो ही है; वे एक तटस्थ कलाकार है । किन्तु अपनी "विनय पत्रिका" में वे प्रगीत कवि है । उनकी अपनी भावनाओ से हम तुलसी के व्यक्तित्व, चरित्र, स्वभाव, प्रवृत्ति एक-एक को परखते चलते है । दूसरे रूप मे हम कह सकते है कि उसमें कवि स्वय ही एक पात्र है और वही अकेला पात्र है । एक प्रबन्ध काव्य में या तो हम कवि की कला की प्रशसा करते है या उसकी त्रुटियो की निन्दा करते है अथवा विश्व की, जीवन की समस्याओ में सुलझते-उलझते है ; पर प्रगीत काव्य में हम कवि के साथ सहानुभूति रखते है, उसके लिए रोते है, उसके प्रति दया करते है, परिस्थितियो या भाग्य को कोसते है, उसे प्यार करते है अथवा उससे घृणा करते है । प्रबन्धकाव्य में कवि, समाज और पात्रो से ऊँचा उठ जाता है, वह उसका विधायक है, निर्माता है, पर प्रगीत काव्य में पाठक, और श्रोता कवि से ऊँचे होता है । हम उसकी विभिन्न मनोवृत्तियो, अनेक अन्तर्दशाओ का निरीक्षण और अध्ययन करते है । अत. प्रगीत में व्यक्तिगत भावना ही प्रधान विशेषता है ।

इस प्रकार प्रगीत काव्य की एक अलग कोटि ही समझी जानी चाहिए । उसे अन्य काव्य कोटियो से भिन्न करनेवाली विशेषताएँ नीचे लिखी जाती है —

(१) यह स्वानुभूति-प्रधान होता है * अर्थात् इसके अन्तर्गत कवि

---

*"In direct contrast to epic poetry we-have our second type, that namely of lyrical poetry Its content is that within ourself, the ideal world, the contemplative or emotional life of soul which instead of following up action remains at home with itself in its

अपने आन्तरिक भावो, इच्छाओ, उत्साह, प्रेरणा, विश्वास, सन्तोष, समर्पण आदि को सीधे ढग से व्यक्त करता है।

(२) एक प्रगीत, प्रबन्ध या नाट्य काव्य की भाँति जातीय * या राष्ट्रीय विशेषता को प्रकट नही कर सकता है।

---

own ideal realm and consequently is able to accept self-expression as its unique and indeed final end Here we have, therefore, no substantive totality, self evolved as external fact or event, but the express outlook, emotion and observation of the individual's self-introspective life shares in what is substantive and actual therein as its own, as its passion, mood or reflection , we have the birth of its own loins Such a fulfilment and ideal process is not adequately realised in a mechanical delivery such as we saw conceded as appropriate to epic poetry. On the contrary the single must give utterance to the ideas and views of lyrical art as though they were the expression of his own soul, his own emotions. And in as much as it is the innermost world which the delicacy has to animate, the expression of it will above all lean to the musical features of poetical reproduction, whether permitted as an embellishment or a necessity we shall here meet inter varied modulations of the voice, either in recitation or song, and the accompaniment of musical instrument."

Hegels philosophy of Fine Arts, vol. IV, P. 103

"The subjective type of poetry is bound to find its own forms, in a province of its own, wholly independent of Epio. In other words, the human spirit descends from the objectivity of the object into its own private domains, it peers into its particular conscious life, it endeavours to satisfy the desire to reproduce the presence and reality of that as displayed in souls, in the experience of heart and reflected idea, and in doing so to unfold the content and activity of the personal life rather than the actual presence of the external fact.

Hegel's P. F A., vol. IV, P. 196.

*"There is, however, this essential distinction, that whereas, the Epos combines in one and the same work the spirit of a people in all its breadth and in its actual deed and fashion, the

(३) पूरी कविता भर मे एक ही मर्मस्पर्शी भावना रहती है।

(४) यह कविता वाद्ययन्त्रो के साथ गेय होती है।

हिन्दी काव्य का बहुत बड़ा भाग प्रगीतात्मक है। पुरानी तथा नवीन दोनो प्रकार की कविताओ में स्वभावगत विशेषता के रूप में प्रगीतात्मकता देखने को मिलती है। यद्यपि इस प्रवृत्ति का विकास आधुनिक हिन्दी काव्य में ही विशेष व्यापक रूप से हुआ है, पर प्राचीन हिन्दी काव्य में भी यह प्रवृत्ति प्रमुखतया देखने को मिलती है। इस कारण कुछ लोगो का यह विचार कि प्रगीतात्मकता हिन्दी काव्य का आधुनिक विकास है, सत्य नही। आधुनिक काल के पूर्व हिन्दी कविता में प्रगीतात्मक प्रवृत्ति पूर्णतः घुली-मिली है। नाट्यकाव्य के अभाव में ही मानो हिन्दी में प्रगीतात्मकता का प्रवाह इतना प्रबल है। यहाँ तक कि हम कह सकते है कि आजकल प्रचलित प्रगीतो के अनेक स्वरूप, मूलरूप मे पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य में उपस्थित थे, और उनका नया रूप नये प्रभावो के कारण है, नये बीज के कारण नही।

हिन्दी प्रगीतों के विविध रूप

प्रगीतो की रूप-विविधता का विस्तार उतना ही अधिक हो सकता है जितना कि मानव भावो का। मनुष्य के आन्तरिक जीवन की एक-एक भावना प्रगीत काव्य के लिए उपयुक्त विषय बनने की क्षमता रखती है, फिर भी किसी जातिविशेष की परम्परा, और विश्वासो के आधार पर हम देखते है कि एक भाषा के प्रगीतो के स्वरूप दूसरी भाषा के प्रगीतो के स्वरूप से भिन्न होते है, यद्यपि मौलिक तत्व एक ही रहते है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी साहित्य में हमें 'एलेजी' (शोकगीति) प्रगीत का एक भेद मिलता है जिसे कि हम पूर्ववर्ती हिन्दो काव्य में इसलिए नही पाते है कि भारतीय, ससार की क्षणभगुरता, देह की नश्वरता और आत्मा की अमरता पर विश्वास करते है। यह विश्वास दार्शनिक तथ्य के रूप में उन्हें मिला है। अत कवि को व्यक्ति के शरीरपात

---

more definite content of the lyrical, limits itself to one particular aspect, or at least is unable successfully to attain to the explicit completeness and exposition which the Epos ought at least to possess. The entire wealth of lyrical poetry in a nation, may, therefore, no doubt embrace the collective exuberance of national interest, idea and purpose, but it is not the single lyrical poem that can do this."

Hegel's P. F. A., vol IV, P. 196.

पर पछतावे का अवसर नहीं क्योंकि अधिकाश वह उसे सासारिक बधनो से मुक्त होना समझता है।† इसी प्रकार शुद्ध प्रेम-प्रगीत भी हिन्दी में अंग्रेजी के प्रेम-प्रगीत (Love lyrics) से भिन्नता रखते है। प्रेम-प्रगीतो में भी हिन्दी का कवि उन्हें ईश्वराभिमुखी कर देता है, चाहे उसका प्रारम्भ भौतिक प्रेम से ही हो। वर्गीकरण के अन्तर्गत इस प्रकार के प्रगीतो में जो भी भावना प्रधान है उसी के अन्तर्गत उसे रखना उपयुक्त है।

हिन्दी कविता के प्रगीतो के प्रमुख स्वरूपो का हम निम्नलिखित भेदो में अध्ययन कर सकते है —

विनयगीति, प्रेमगीति और ग्रामगीत। प्रेमप्रगीतो के अन्तर्गत हम आध्यात्मिक प्रेमप्रगीत और भौतिक प्रेमप्रगीत रख सकते है। क्योकि इनमें विषय का अन्तर है, स्वरूप का नही। इसी प्रकार ग्रामगीतो के अनेक भेद है जो ऋतु और अवसर के अनुसार विषय और स्वरूप दोनो में एक दूसरे से भिन्नता रखते है।

विनय प्रगीत

इन प्रगीतो के अन्तर्गत आत्मसमर्पण, प्रार्थना, याचना, आत्मदीनता आदि की भावना प्रधान रहती है और व्यक्ति स्वय अपनी बात परमात्मा से निवेदन करता है। परमात्मा की प्रशसा इन भावनाओ के साथ रहती है और उसमें दयालुता, न्यायप्रियता, उदारता आदि गुणो का विशेष रूप से आरोप किया जाता है। विनयप्रगीतो में कवि सासारिक सम्बन्धियो को असमर्थ समझ कर परमात्मा से प्रार्थना किया करता है, अतिशय दुःख के कारण और कभी-कभी सफलता-द्वारा उत्पन्न हर्ष के आवेश में वह इस भावना से ओत-प्रोत होता है। ये विनयप्रगीत सर्वेश्वर परमात्मा के लिए होते है अथवा कभी-कभी देवता विशेष को लक्ष्य करके भी लिखे जाते है। जैसे शिवस्तोत्र, दुर्गाविनय आदि। विनयप्रगीतो के रूप मे ही गणेश, सरस्वती या अन्य देवताओ की प्रार्थना किसी बड़े काव्यग्रथ के प्रारम्भ में सफलता के लिए की जाती है। अतः विनयप्रगीतो का मूल कारण मनुष्य की अभावानुभूति है। कवि का एक पूर्ण समर्थ शक्ति में यह विश्वास होता है कि विनय-द्वारा वही शक्ति प्रसन्न हो कर उसका कल्याण करेगी ? इनमें हम प्राय दो भावनाएँ

---

†"जा मरने से जग डरै, मेरे मन आनन्द।
कब मरिहौं, कब पाइहौं पूरन परमानन्द॥"

—कबीर

प्रधान देखते हैं —प्रथम आत्मनिवेदन की है। इसके अन्तर्गत अपने दोषों और पापो का वर्णन करते हुए आत्मोत्सर्ग का भाव विशेष रूप से रहता है, दूसरी भावना परमात्मा में उनके कृत्य और दया आदि में विश्वास की है। प्रथम का प्रकाशन दूसरी भावना के कारण ही होता है। चाहे कितना पाप और दोष हमारे साथ क्यो न लगा हो, परमात्मा की विनय द्वारा वह सब कट जायगा। वह रीझेगा तो सब कुछ कर सकता है। नीचे लिखे कुछ उदाहरण उक्त कथन की पुष्टि करते हैं। कवि की व्यक्तिगत भावना उसकी पूरी आत्म-चेतना के साथ ही व्यक्त है। फिर भी वह भावना विनय और आत्मनिवेदन की ही है। अपने दोषो को सामने रखकर सूर परमात्मा से विनय कर रहे हैं:—

"आछो गात अकारथ गारचौ।
करी न प्रीति कमललोचन सो जनम जुवा ज्यों हारचौ॥
निसिदिन बिषय बिलासनि बिलसत फूटि गई तव चारचौ।
अब लाग्यो पछितान पाइ दुख दीन दई को मारचौ॥
कामी कुटिल कुचील कुदरसन कौन कृपा करि तारचौ।
ताते कहत दयालु देव, पुनि काहे सूर बिसारचौ॥"*

तुलसी भी इसी आवेश में कहते हैं —

"मोह जनित मल लाग विविधविधि, कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यासनिरत चित, अधिक अधिक लपटाई॥
नयन मलिन पर नारि निरखि, मन मलिन विषय सँग लागे।
हृदय मलिन वासना मान मद, जीव सहज सुख त्यागे॥
परनिंदा सुनि श्रवन मलिन भये, वदन, दोष पर गाये।
सब प्रकार मलभार लाग निजनाथ चरन बिसराये॥
तुलसिदास व्रत दान, ग्यान-तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै।
रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै॥"†

इन गीतो में मुख्य भावना अपने दोषो के उद्घाटन की है। परमात्मा के सामने अपने दोषो को स्वीकार करना उनसे मुक्ति पाने का एक साधन है। मन को अपने स्वभाव से वर्जित कर उसे परमात्मा की ओर मोडने से मन की शुद्ध शक्ति बढती है। दूसरी भावना परमात्मा के ऊपर दृढ विश्वास,

* सूरसागर प्रथम स्कन्ध, ४२ वाँ पद।

† विनयपत्रिका, ८२।

पूर्ण आत्मसमर्पण की है। पापों से और पापों-भरे संसार से उबारने के लिए कितनी विनय इनमें भरी हुई है।

सूर कहते हैं:—

"जो हम भले बुरे तौ तेरे।
तुम्हें हमारी लाज बड़ाई विनती सुनु प्रभु मेरे।
सब तजि तुम शरणागत आयो निज कर चरण गहे रे॥
तुम प्रताप बल बढ़त न काहू निडर भये घर चेरे।
और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे॥
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा ते पाये सुख जु घनेरे॥"

नीचे के पद में विनय के साथ-साथ कृतज्ञता की भावना भरी हुई है —

"तुम गोपाल मोसो बहुत करी।
नर देही दीनी सुमिरन को मो पापी ते कछु न सरी।
गर्भबास अति त्रास अधोमुख तहाँ न मेरी सुधि बिसरी॥
पावक जठर जरन नहि दीनो कचन सी मेरी देह धरी।
जग में जन्मि पाप बहु कीन्हे, आदि अन्त लौं सब बिगरी।
सूर पतित तुम पतित उधारन, अपने विरद की लाज धरी॥ ५७॥"

तुलसी की विनयपत्रिका तो विनय-गीतों का भडार ही है। यही भावनाएँ वहाँ भी देखिये.—

"तू दयाल दीन हौं तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पापपुंज हारी॥
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहि आरतहर तोसो॥
ब्रह्म तू हौं जीव हौं तू ठाकुर हौं चेरो।
तात, मातु, गुरु, सखा, तू सब विधि हित मेरो।
मोंहि तोंहि नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों त्यो तुलसी कृपालु चरण शरण पावै॥*

विनय के अन्तर्गत दीनता, अनन्यता और समर्पण के कितने गहरे भाव नीचे के पद में व्यक्त हुए हैं —

---

* विनयपत्रिका, ७६।

"जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतितपावन जग केहि अति दीन पियारे॥
कौने देव बराइ बिरद हित हठि हठि अधम उधारे।
खग, मृग, व्याध, पखान, विटप जड जवन कौन सुर तारे॥
देव, दनुज, मुनि, नाग मनुज सब माया बिवस विचारे।
तिनके हाथ दासतुलसी प्रभु कहा अपुनपौ हारे॥"

विनयप्रगीतो के अन्तर्गत अन्य भावो को लपेट कर भी प्रगीत लिखे गये हैं, जैसे विद्यापति की शकर की स्तुति, रीतिकाल के कवियो की कृष्ण की स्तुति आदि। इनमें हास्य-विनोद की भावना प्रधान है। विनयप्रगीतो के नितान्त एक दूसरे से भिन्न विविध स्वरूप देखने को नही मिलते।

प्रेमप्रगीत १—आध्यात्मिक

प्रगीतों का दूसरा भेद प्रेमप्रगीतो का है। इनके अन्तर्गत आध्यात्मिक प्रेम और भौतिक प्रेम के प्रगीत है। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत हम क्रमशः मानव-प्रकृति और देशप्रेम के प्रगीत ले सकते है। आध्यात्मिक प्रेमप्रगीत, विनयगीतो से भिन्न इस कारण से है कि आध्यात्मिक प्रेमगीतियो में प्रधान भावना प्रेम की है, जब कि विनय गीतियों में प्रधान भावना श्रद्धा, विश्वास और दीनता की है। इनमें परमात्मा के प्रति तीव्र और गहरी उमगती प्रेम भावना भरी रहती है। परमात्मा के प्रेम का विकास भक्ति काव्य में देखने को मिलता है। सगुण भक्ति के अन्तर्गत व्यापक भावनाएँ विनय की तो है ही, प्रेम की भी है। सगुण भक्ति के अन्तर्गत भी प्रेम-भावना का सुन्दर चित्रण हुआ है। आध्यात्मिक प्रेमप्रगीतो के अन्तर्गत जिस प्रकार के प्रगीत आते है उनका वर्णन मधुर भाव की भक्ति के अन्तर्गत हो चुका है। किन्तु इस परमात्मा के सम्बन्ध की प्रेम-भावना का सादृश्य बहुत कुछ लौकिक प्रेम से रहता है। उदाहरण के लिए नीचे लिखा कबीर का पद देखिये :—

"भीजै चुनरिया प्रेमरस बूँदन।
आरति साज के चली है सुहागिन पिय अपने को ढूँढन।
काहे की तोरी बनी है, चुनरिया, काहे के लगे चारो फूँदन।
पाँच तत्व की बनी चुनरिया नाम के लगे चारो फूँदन।
चढिगे महल खुलगई रे किवरिया दास कबीर लागे झूलन॥"

१८७ परिशिष्ट, कबीर (हजारीप्रसाद द्विवेदी)

यहाँ कबीर के परमात्मा के प्रेम का चित्रण है। यह प्रेम उसी प्रकार का है जैसा कि एक पतिप्यारी स्त्री का प्रेम होता है। उस प्रेमानुभूति का वर्णन देखिये। कबीर कहते हैं पति की प्रेमरस की वर्षा से चुनरी भीज रही है। उसी प्रेममग्न अवस्था में आत्मा एक सौभाग्यवती स्त्री के समान आरती सजाकर अपने प्रिय (परमात्मा) की खोज में चली है। सौभाग्यवती इस कारण से है, कि पति उसके सद्गुणों पर उसे अवश्य प्यार करता है--उसे अपनाता है इसका विश्वास उसे पूरा है। आरती साजकर अपने प्रिय को ढूंढने जाना, यह परकीया नायिका का काम है। भक्ति के क्षेत्र में परकीया का प्रेम विशेष तीव्र माना गया है इसी से यह रूप है। अब वह चुनरी जो प्रेमरस से भीज रही है, किस वस्तु की बनी है और फूंदन किस चीज के हैं? उसके उत्तर में वे कहते हैं कि चुनरी अर्थात् यह देह पाँच तत्व की बनी हुई है और परमात्मा के 'नाम' के शोभाशाली फूंदन लगे हुए है। इस प्रकार का उत्तर पाने पर कबीर को महल में प्रवेश-आदेश मिल गया और वे भीतर जाकर झूलने लगे अर्थात् परमात्मा के समीप जाकर प्रेम का आनंद प्राप्त करने लगे। इसका तात्पर्य यह है कि जो भी इस प्रश्न का उत्तर इस रूप में दे सकता है, वही परमात्मा का प्रेमी है और उसे ही महल में प्रवेश का अधिकार प्राप्त होता है। यहाँ पर उस प्रेम का रूपक परकीया प्रेम से और आनंद का रूपक 'झूलने' से बाँधकर उन्होंने आध्यात्मिक अनुभव के सादृश्य करनेवाले लौकिक अनुभवों की ओर संकेत कर, उसको व्यक्त किया है।

कबीर के अधिकांश प्रगीत जो उनके अनुभव को व्यक्त करनेवाले हैं इसी प्रकार के हैं। इन आध्यात्मिक प्रेमप्रगीतों के अन्तर्गत हम विरह और मिलन दो प्रकार की भावनाओं में प्रेम का प्रकाशन पाते हैं। संसार से वैराग्य के साथ-साथ विरह की भावना जाग्रत होती है। और उसका अनुभव मनुष्य को नित्य प्रति के बनते-बिगडते, जीवों को जन्मते-मरते देखकर होता है। "भूलालोग कहै घर मेरा" "माली आवत देख के कलियन करी पुकार" आदि पदों में इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं। विरह में अनेक अन्य अवस्थाओं के साथ वह अवस्था आती है जबकि प्रिय की स्मृति गहरी होती है और उसी सुधि की अवस्था में प्रेमी रहता है। कबीर अपनी आत्मा के, विरहावस्था के अनुभव का वर्णन करते हैं —

"चरखा चलै सुरत विरहिन का।
काया नगरी बनी अति सुन्दर महल बना चेतन का॥

सुरत भाँवरी होत भवन मे पीढ़ा ज्ञान रतन का।
मिहीन सूत बिरहिन कातै माँझा प्रेम भगति का ॥
कहैं कबीर सुनो भई साधो, माला गूंथौ दिन रैन का।
पिया मोर ऐहैं पगा राखिहैं, आँसु भेंट देहौं नैन का ॥

किन्तु इसके पश्चात् विकलता का अनुभव होता है। धीरे-धीरे विरह की भावना तीखी हो जाती है और प्रतिपल बिछुड़न और अलगाव का विचार, घुन की भाँति काट खाता है। इस आत्म विरहानुभूति का प्रभावशाली ढग से कबीर की साखियो में प्रकाशन हुआ है। आध्यात्मिक प्रेम प्रगीतो की यह भावना प्रगीत की जान है। कुछ पक्तियाँ देखिये:—

"आँखड़ियाँ झाँई परी. पथ निहारि निहारि।
जीहड़ियाँ छाला पड़्या, नाम पुकारि पुकारि ॥
कैसे जीवेगो विरहिनी पिया बिनु, कीजै कौन उपाय।
दिवस न भूख रैन नहि सुख है जैसे कलिजुग जाय ॥
तलफत मीन बिना जल जैसे, दरसन दीजै धाय।
बिना अकार रूप नहि देखा, कौन मिलैगी आय ॥
आपनि पुरुष समुझि ले सुन्दरि, देखो तन निरताय।
सब्द सरूपी जिव-पिव बूझो, छोड़ो भ्रम की टेक ॥
कहैं कबीर और नहि दूजा जुग जुग हम तुम एक ॥"

इसी प्रकार 'मीरा' का एक विरह-भरा प्रेमप्रगीत देखिये —

"हेरी मै तो प्रेम दिवानो री, मेरा दरद न जानै कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विधि सोवण होय।
गगन मडल में सेज पिया की किस विधि मिलणा होय ॥
घायल की गति घायल जानै की जिन लाई होय।
जौहर की गति जौहरी जानै, की जिन जौहर होय ॥
दरद की मारी बन बन डोलूँ, वैद मिल्या नहि कोय।
"मीरा" की प्रभु पीर मिटै, जब वैद सँवलिया होय ॥"

अन्त में ससार के सभी सम्बन्धो को भुलाकर परमात्मा से मिलने का दृढ विचार कितने विश्वास और विकलता के साथ-साथ व्यक्त हुआ है .—

"इब न रहूँ माटी के घर में।
इब मैं जाइ रहूँ मिलि हरि में ॥

छिनहर घर अरु झिरहर टाटी ।
घन गरजत कपत मेरी छाती ॥*

यथार्थ में विरहानुभूति की अनेक दशाएँ एक दूसरे से भिन्न या नितान्त अलग-अलग रूप में नहीं दिखलाई पडती है। इन दशाओ का मनोविज्ञान के विचार से जो भी क्रम निश्चय किया जावे, आवश्यक नही कि वही दशाएँ यथार्थ अनुभव के क्रम में आई हो। किन्तु अध्ययन और मनोविज्ञान के विचार से इसी प्रकार का क्रम उपयुक्त है।

मिलन की आनन्दमयी अनुभूति का प्रकाशन भी कबीर की कविताओ में बहुत मिलता है और वह प्रकाशन प्रगीतात्मक रूप में है। इसके अन्तर्गत अनेक अवस्थाओ का खोजना और भी कठिन है अनुभव की गहराई की कमी और अधिकता के विचार से ही हम अवस्थाओ का क्रम निर्धारित कर सकते है। कुछ कविताएँ जिनमें मिलन अथवा आनन्द की अनुभूति का वर्णन है नीचे दी जाती है :—

"मन मस्त हुआ तब क्यो बोलै ।
हीरा पायो गाँठ गँठियायो, बार बार वाको क्यों खोले ॥
हलकी थी जब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यो तोलै ।
सुरत कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिनु तोलै ।
हंसा पाये मान सरोवर, ताल तलैया क्यो डोलै ॥
तेरा साहब है घटमाही, बाहर नैना क्यो खोलै ।
कहै कबीर सुनो भई साधो, साहब मिल गये तिल ओलै ॥"†

परमात्मा के साथ जाने का आनन्द कबीर नीचे के पद में वर्णित करते है :—

"मै अपने साहब सग चली ।
हाथ में नरियल मुख में बीड़ा, मोतियन मांग भरी ।
लिल्ली घोड़ी जरद बछेड़ो, तापै चढि के चली ॥
नदी किनारे सतगुरु भेंटे तुरत जनम सुधरी ।
कहै कबीर सुनो भई साधो, दोउ कुल तारि चली ॥‡

---

* कबीर, पृ० ३१६ ।

† 'कबीर' परिशिष्ट, पद, २१२ ।

‡ 'कबीर' पद, १८८ ।

पूरे साज-सामान के साथ पति के साथ की यात्रा है। अब आगे पति के देश का वर्णन है जो कि इस जग से, जो नैहर है नितात भिन्न है। यहाँ पर आना बडा कठिन है, कोई भी आराम व सुख के सामान नही है, किन्तु कबीर के लिए वही देश सुन्दर और सुखद है —

"वागड़ देस लूवन का घर है। तहँ जिन जाइ दाभन का डर है।
सब जग देखौ कोई न धीरा। परत धूरि सिर कहत अबीरा।
न तहाँ सरवर न तहाँ पाणी। मन तहाँ सतगुरु साधू बाणी।
न तहाँ कोकिल न तहाँ सूवा। ऊँचे चढि चढि हंसा मूवा।
देस मालवा गहर गभीर। डग-डग रोटी पग-पग नीर।
कहै कबीर धरती मन माना। गूँगे का गुड़ गूँगे जाणा।"

यह कबीर का प्रिय के देश का वर्णन है। वे परमात्मा के सान्निध्य का अनुभव व निरपेक्ष आनन्द की प्राप्ति करते है जो उनका निजी अनुभव है। "रस गगनगुहा में अजर झरै' तथा अन्य पदो में इसी प्रकार अनुभव का वर्णन है, किन्तु मिलन का आनन्द अलौकिक है, उसका अनुभव नीचे के पद में कबीर ने व्यक्त किया है —

"आज दिन कै मै जाऊँ बलिहारी।
पीतम साहब आये मेरे पहुना। घर आँगन मोरा लगो सुहावना।
सबै दास लागे मगल गावन। भये मगन लखि छवि मनभावन।
चरन पखारूँ बदन निहारूँ। तन मन धन सब साईं पै वारूँ।
जा दिन पाये पिया धनि सोई। होत अनंद परस सुख होई।
सुरत लगी सत नाम की आसा। कहै कबीर दासन के दासा।"

सूर और तुलसी के भी आध्यात्मिक प्रेम-गीत है पर उनमें प्रेम से अधिक श्रद्धा और समर्पण की भावना है। इस प्रकार आध्यात्मिक प्रम-प्रगीतो का सक्षिप्त परिचय हुआ।

प्रेम प्रगीत—लौकिक (भौतिक)

प्रेम-प्रगीतो में प्रेम की तीखी और व्यापक हिलोर भरी रहती है। इनमें प्रायः कला की उत्कृष्ट कोटि देखने में आती है, क्योकि प्रेम सबसे प्रबल भाव है और विश्व की उत्कृष्ट कविता का स्रोत है। प्रेमानुभूति और कल्पना ही कविता की दो शक्तियाँ हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रबन्ध और नाट्य काव्यो में प्रमुख भाग कल्पना का रहता है, पर प्रगीत काव्य में प्रमुख कार्य अनुभूति ही करती है। इसमें कवि प्रधानतः अपनी अनुभूति के

की विशेषता से युक्त है, पर है ये मुक्तक। यदि हम इन्हे प्रगीत काव्य के अतर्गत रखेंगे तो इन्हें एक भिन्न वर्ग के अन्तर्गत रखना होगा, जिसे हम "नाट्य † प्रगीत" कह सकते है। प्रगीत की विशेषना 'अपना अनुभव' इसमें उपस्थित है पर वह अपने रूप में नही। यथार्थ में इन्हें मुक्तक काव्य का एक भेद कहना अधिक उपयुक्त होगा। शुद्ध गीति-भावना, इनमें नही।

किन्तु हिन्दी के कुछ कवि ऐसे भी है, जिन्होने अपने भावावेश में लिखकर अपने को ही यथार्थ रूप में प्रकट करने का उद्योग किया है। ससार के मीठे कडुवे अनुभवो को उन्होने अपना कर, अपना कह कर व्यक्त किया है और इसमें उनकी लौकिक प्रेमानुभूति भी है। इसी के अन्तर्गत हमें सुन्दर 'प्रेम-प्रगीत' मिलते है। इन प्रगीतो में प्रेम की टीस वडे ही विशद, सहज और मधुर रूप में उपस्थित है जिसे पढनेवाला या सुननेवाला आकुल, व्याकुल या मुग्ध हुए विना नही रहता है। इन 'प्रेम-प्रगीतको' में से प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है—घनानन्द, रसखान, आलम, सीतल, और बोधा। ये वास्तव में प्रेमी मानव थे, अतः इन्होने हमें सुन्दर प्रेमानुभूति प्रदान की है। घनानन्द इनमें सर्वोत्कृष्ट है। घनानद के कुछ छन्द जिनमें प्रेम की विभिन्न अवस्थाओ का वर्णन है, नीचे दिये जाते है —

"लाखन भाँति भरे अभिलाखनि के पल पाँवड़े पंथ निहारैं।
लाडिलो आवनि लालसा लागि न लागत है मन मै पन धारैं।
यों रस भीजे रहै 'घनआनँद' रीझै सुजान सुरूप तिहारैं।
चायनि बावरे नैन कबै, अँसुवान सो रावरे पायँ पखारैं।।" ४४५।
घनानद और रसखान।

ऊपर के छन्द में प्रिय के पैर पखारने की, प्रिय मिलन की चाह कितनी गहरी है और उस चाह को किन सुन्दर सूक्ष्म भावो के साथ व्यक्त किया है। मिलन की चाह अधूरी ही रहती है। अत. अभिलाषा और भी वढती जाती है। 'व्याकुलता' उभरती है जिसका चित्रण नीचे की पक्तियो में दर्शनीय है .—

"प्रान पखेरू परे तरफै, लखि रूप चुगो जु फँदे गुन गाथन।
क्यो हतिये हित पालि सुजान,दया विन व्याध-वियोग के हाथन।

---

† Robert Browning wrote many poems of this kind and he invented a name for them "Dramatic Lyrics" so that people should understand that the "I" in the poem was not himself."

Nature of English Poetry, by L. S Harris, P. 50.

विश्लेषण में आनन्द प्राप्त करता है और उन्हीं को गीतों के रूप में प्रकाशित करता है। अनुभूति कवि की अपनी है पर उसकी महत्ता उसके विश्वव्यापी होने में है। हिन्दी में शुद्ध प्रेमप्रगीत अधिक नहीं है क्योंकि रीतिकाल की कविता के अन्तर्गत, जिसमें उन्हें काफी क्षेत्र मिला, उनका रूप बहुत कुछ नाटकीय हो गया है। वे मुक्तक हैं पर प्रगीत नहीं, क्योंकि कवि की आत्मा अपने आप न कह कर किसी दूसरे के द्वारा अपने भावों को प्रगट करती है। नायिकाभेद आदि के अन्तर्गत कवि नायक-नायिकाओं के मुँह से अपनी अनुभूति का वर्णन करता है। अधिकांश रीतिकालीन कवियों का प्रयास इसी प्रकार का है। इनमें यद्यपि आत्मा प्रगीत की है पर स्वरूप नाट्य काव्य का है। उदाहरणार्थ :—

"अलि हौं तो गई जमुना जल कों, सो कहा कहौं बीच विपत्ति परी।
घहराइ के कारी घटा उनई, इतने ही में गागरी सीस धरी॥
रपट्यो पग घाट चढ्यो न गयो, कवि 'मंडन' ह्वै कै बेहाल गिरी।
चिरजीवहु नंद को वारो अरी, गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी॥"

यहाँ पर कवि अपने को एक गोपी के रूप में समझता है जो कि जमुना में जल भरने गई थी और जल भरने के बहाने नंदकुमार कृष्ण से भेंट की, उसी भेंट के अनुभव का वह वर्णन करती है। कवि का अपना अनुभव नहीं, वरन कल्पना-द्वारा वह उस प्रकार के अनुभव का आभास देता है। इसी प्रकार :—

"ऊधौ तहाँ ही चलौ लै हमें, जहाँ कूबरी कान्ह बसैं इकठौरी।
देखिये "दास" अघाय अघाय, तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी॥
कूबरी सो कछु पाइये मंत्र, लगाइये कान्ह सो प्रीति की डोरी।
कूबरी भक्ति बढ़ाइये बंदि, चढ़ाइये चंदन वंदन रोरी॥"

(भिखारीदास)

इनमें यद्यपि अनुभूति बड़ी प्रबल और तीव्र है, फिर भी अपनी नहीं है। कवि अपनी बात नहीं, गोपियों की बात कहता है। प्रगीत सदा ही अपनी कथा के रूप में होते हैं, वहाँ पर आत्मानुभव अपने ही अनुभव के रूप में उपस्थित रहता है। अपनी कथा के वर्णन के रूप में नहीं, कथानक के रूप में नहीं, वरन् भीतरी अनुभव या भाव-विश्लेषण के रूप में रहना आवश्यक है। ऊपर के छन्दों में यह बात नहीं है। कवि ने अपने अनुभव को दूसरे के अनुभव के रूप में व्यक्त किया है, या दूसरे के अनुभव की कल्पना करने का प्रयत्न किया है। कवि ने गोपियों की अनुभूति में प्रवेश करके लिखा है। यही प्रवृत्ति रीतिकालीन नायिकाभेद और रसग्रंथों में सर्वदा विद्यमान मिलती है। अतः ये 'नाट्यकाव्य'-

की विशेषता से युक्त है, पर है ये मुक्तक। यदि हम इन्हे प्रगीत काव्य के अतर्गत रखेंगे तो इन्हें एक भिन्न वर्ग के अन्तर्गत रखना होगा, जिसे हम "नाट्य † प्रगीत" कह सकते है। प्रगीत की विशेषता 'अपना अनुभव' इसमें उपस्थित है पर वह अपने रूप में नही। यथार्थ में इन्हें मुक्तक काव्य का एक भेद कहना अधिक उपयुक्त होगा। शुद्ध गीति-भावना, इनमें नही।

किन्तु हिन्दी के कुछ कवि ऐसे भी है, जिन्होने अपने भावावेश में लिखकर अपने को ही यथार्थ रूप में प्रकट करने का उद्योग किया है। ससार के मीठे कड़ुवे अनुभवो को उन्होने अपना कर, अपना कह कर व्यक्त किया है और इसमें उनकी लौकिक प्रेमानुभूति भी है। इसी के अन्तर्गत हमें सुन्दर 'प्रेम-प्रगीत' मिलते है। इन प्रगीतो में प्रेम की टीस बडे ही विशद, सहज और मधुर रूप में उपस्थित है जिसे पढनेवाला या सुननेवाला आकुल, व्याकुल या मुग्ध हुए बिना नही रहता है। इन 'प्रेम-प्रगीतकों' में से प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है—घनानन्द, रसखान, आलम, सीतल, और बोधा। ये वास्तव में प्रेमी मानव थे, अतः इन्होने हमें सुन्दर प्रेमानुभूति प्रदान की है। घनानन्द इनमें सर्वोत्कृष्ट है। घनानद के कुछ छन्द जिनमें प्रेम की विभिन्न अवस्थाओ का वर्णन है, नीचे दिये जाते है —

"लाखन भाँति भरे अभिलाखनि के पल पाँवड़े पथ निहारें।
लाडिली आवनि लालसा लागि न लागत है मन मै पन धारें।
यों रस भीजे रहै 'घनआनँद' रीझै सुजान सुरूप तिहारें।
चायनि बावरे नैन कबै, अँसुवान सो रावरे पायँ पखारैं।।" ४४५।

घनानद और रसखान।

ऊपर के छन्द में प्रिय के पैर पखारने की, प्रिय मिलन की चाह कितनी गहरी है और उस चाह को किन सुन्दर सूक्ष्म भावो के साथ व्यक्त किया है। मिलन की चाह अधूरी ही रहती है। अत. अभिलाषा और भी बढती जाती है। 'व्याकुलता' उभरती है जिसका चित्रण नीचे की पक्तियो में दर्शनीय है .—

"प्रान पखेरू परे तरफै, लखि रूप चुगो जु फँदे गुन गाथन।
क्यों हतिये हित पालि सुजान, दया बिन ब्याध-वियोग के हाथन।

---

† Robert Browning wrote many poems of this kind and he invented a name for them "Dramatic Lyrics" so that people should understand that the "I" in the poem was not himself."

Nature of English Poetry, by L. S Harris, P. 50.

सालत बान समान हिये सुलहे, घनआनँद जे सुख साथन।
देहु दिखाय दई सुखचद लग्यौ अब औधि दिवाकर आथन ॥" ४४०।

घनानन्द और रसखान।

इसमें प्रिय-बिछोह के साथ विवशता की अनुभूति कितनी प्रबल है, जिसकी तीव्रता छन्द के एक-एक शब्द से प्रकट होती है। प्रेम की प्यास, दर्शन की लालसा कितनी बढी-चढी है कि एक क्षण भी चैन नही। ससार के कार्यों में सूनापन है। बुद्धि बावली है, धैर्य खो गया है। देखिये :—

"मेरी मति बावरी ह्वै जाय जानराय प्यारे,
रावरे सुभाय के रसीले गुन गाय गाय।
देखन के चाय प्रान आँखिन में झाँके आय,
राखौं परचाय पै निगोडे चलै धाय धाय।
विरह विषाद छाय आँसुन की झरी लाय,
मारै मुरझाय मैन द्यौस रैन ताय ताय।
ऐसे घनआनँद विहाय न बसाय हाय,
धीरज बिलाय बिललाय कहौं हाय हाय ॥"

इसी भाँति ही:—

"रैन दिना घुटिबो करै प्रान, झरै अखियाँ दुखिया झरना सी।
प्रीतम की सुधि अतर में, कसकै सखि ज्यो पसुरीन मैं गाँसी।
चौचंद चार चवाइन के चहुँओर मचै बिरचै करि हाँसी।
यौं मरिये भरिये कहि क्यो सु परौ जनि कोऊ सनेह की फाँसी ॥"३६८।

प्रेम में कितना दुख सहना पडता है, इस बात का अनुभव कवि ने स्पष्ट रूप से कह दिया है 'स्नेह में पडना फाँसी में पडना है।' अब आगे प्रिय की कठोरता पर 'उपालभ' का भाव नीचे के छन्द में कितना सजग है —

"हम सों पिय साँचियै बात कहौ, मन ज्यौं मन त्यौं अरु नाँहि कहूँ।
कपटी निपटी हिय दाहत हौ, निरदै जु दई डरु नाँहि कहूँ ॥
सबही रँग मै घनआनँद मै बस जात परे घरु नाँहि कहूँ।
उघरौ, बरसौ, सरसौ, दरसौ, सब ठौर बसौ घरु नाँहि कहूँ ॥"२०० ।

इसी प्रकार विरह की अनेक प्रकार की अनुभूतियो का बड़ा तीखा और सजीव चित्रण घनानंद के प्रेमप्रगीतो में है।

रसखान की कविता में 'प्रगीतात्मक भावना' उतनी सबल नही, जितनी

घनानद की कविता में। अपने को गोपी समझ कर कृष्ण की लीला, विलास, रास, प्रेम आदि का वर्णन ही उनका ध्येय है, पर यह वर्णन उनका परम्परागत उतना नही जितना स्वानुभूत है। अत उसमें कल्पना का भाग उतना नही, जितना अनुभूति का है। घनानद के काव्य में अनुभूति की तीव्रता उनकी है और व्यक्त भी अपनी कहकर उन्होने किया है, पर रसखान ने ऐसा कम किया है। 'प्रगीतात्मकता' उसमें उपस्थित है और कुछ मे तो सुन्दर प्रेम-प्रगीत की विशेषता छिपी है, पर उसमें कृष्ण के प्रति प्रेम होने से भक्ति का पुट आ जाता है, जैसे.—

"मानुस हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तौ कहा बस मेरौ चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तौ वही गिरि को जो रच्यौ कर छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।"
"या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवौनिधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं।
'रसखान' कबौं इन आँखिन सो ब्रज के बन बाग तडाग निहारौं।
कोटिक हौं कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥"

इस प्रकार कृष्ण के प्रति प्रेम प्रदर्शित करनेवाले छद घनानद में भी है, पर कम है। लौकिक प्रेम के साथ-साथ अलौकिक प्रेम की ओर भी सकेत है, परन्तु इन दो कवियो के अतिरिक्त आलम, बोधा, और सीतल आदि कुछ ऐसे भी कवि है, जो पक्के प्रेमी हो है। इन्होने जो भी लिखा है प्रेमावेश में ही आकर। अत: इनकी लेखनी से भी सुन्दर और मधुर प्रेम-प्रगीत बहे है। आलम का 'शेख' से बोधा का 'सुभान' नामक वेश्या से और सीतल का एक लडके से प्रबल प्रेम जुडा था और प्रेमसूत्रो पर इनके प्रगीतो के ताने-बाने फैले है। इसी के द्वारा उन्हें काव्य की प्रेरणायें भी प्राप्त थी और वे तीखे अनुभव भी, जो उनको प्रेमानुभूतिपूर्ण कविता के प्राण है। आलम का 'आलमकेलि', बोधा का 'विरहवारीश' और सीतल का 'गुलज़ारे चमन' इसी प्रकार के प्रेम-प्रगीत है। प्रेम का इनका निजी अनुभव उनमें भरा पडा है। रामचन्द्र शुक्ल ने 'आलम' के विषय में अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रथ में लिखा है—"आलम रीतिबद्ध रचना करनेवाले कवि नही थे। ये प्रेमोन्मत्त कवि थे। और अपनी तरग के अनुसार रचना करते थे। सी से इनकी रचनाओ में हृदय तत्व की प्रधानता है। 'प्रेम की

पीर' या 'इश्क का दर्द' इनके एक-एक वाक्य में भरा पाया जाता है·····श्रृंगारस की ऐसी उन्मादमयी उक्तियाँ इनकी रचनाओं में मिलती है कि पढनेवाले और सुननेवाले लीन हो जाते है । यह तन्मयता सच्ची उमग में ही सम्भव है······प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना रसखान और घनानद की कोटि में होनी चाहिए।" इससे यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि आलम अपनी निजी उमंग के प्रेम-चित्रण में सफल कवि है और प्रेम प्रगीतकार भी । आलम के दो छन्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जाते है:—

"जा थर कीन्हें विहार अनेकन, ता थर कांकरी बैठि चुन्यौ करैं ।
जा रसना सों करी बहु बातन, ता रसना सो चरित्र गुन्यौ करैं,
आलम जौन से कुंजन में, करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं ।
नैनन में जो सदा रहते, तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं ।।

रात के उनींदे, अरसाते, मदमाते, राते,
अति कजरारे दृग तेरे यों सुहात है ।
तीखी तीखी कोरनि करोरि लेत काढ़े जीव,
केते भये घायल औ केते तलफात है ।।
ज्यौं ज्यौं लै सलिल चख सेख धोवै बार बार,
त्यौं त्यौं बल बुंदन के बार झुकि जात है ।
कैवर के भाले कैधो नाहर नहरवाले,
लोहू के पियासे कहूँ पानी ते अघात है" ।।

इनमें सौन्दर्य का चित्रण जो है सो है, पर प्रेयसी के प्रति प्रेमभावना गजब की है । इसीलिए ये प्रेम-प्रगीत के उदाहरण है ।

बोधा भी इसी कोटि के कवि है । प्रेम-भावना का चित्रण उनकी कविता में भी बड़ा प्रभाव डालनेवाला है, कभी-कभी मन झूम जाता है । बोधा के विषय में रामचन्द्र शुक्ल का कथन है '—" बोधा एक रसोन्मत्त कवि थे । इससे इन्होने कोई रीतिग्रथ न लिख कर अपनी मौज के अनुसार फुटकल पद्यो की रचना की है । वे अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे । प्रेममार्ग के निरूपण में इन्होने बहुत से पद्य कहे हैं । 'प्रेम की पीर' की व्यंजना भी इन्होने बड़ी मर्मस्पर्शिनी युक्ति से की है " *बोधा की प्रेमानुभूति अपनी ही है ; क्योकि वे स्वयं प्रेमी थे ।

---

* रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४४२ ।

प्रेम का परिचय नीचे के छन्द में देखिये :—

"अति खीन मृणाल के तारहु ते , तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है ।
सुई बेह कै द्वार सकै न जहाँ , परतीति को टाँड़ो लदावनो है ।।
कवि बोधा अनी घनी नेजहु ते , चढ़ि तापै न चित्त डिगावनो है ।
यह प्रेम को पंथ करार है री , तरवारि की धार पै धावनो है ।।"

यह तो प्रेम के कठिन पथ का चित्रण हुआ, जो कि सामान्य रूप से किया गया है । अब उनकी अपनी अनुभूति का चित्रण देखिये —

"कबहूँ मिलिबो, कबहूँ मिलिबो , यह धीरज ही में धरैबो करै ।
उरते कढ़ि आवै गरे ते फिरै , मन की मन ही मै सिरैबो कर ।।
कवि 'बोधा' न चाँड़ सरी कबहूँ, नित ही हरवा सो हिरैबो करै ।
सहते ही बनै कहते न कछू , मन ही मन पीर पिरैबो करै ।।

इस प्रकार के लौकिक प्रेम-प्रगीत रीतिकाल में बहुत लिखे गये और उसके बाद भी । जैसा ऊपर कहा जा चुका है इनमें बहुतेरो ने भक्ति का आवरण ओढ लिया है, पर वहाँ पर विश्लेषण करने से यह साफ पता चल जाता है कि प्रधान भावना लौकिक प्रेम की है, भक्ति की नही । प्रेम की प्रवृत्ति कविता की सर्वप्रधान प्रवृत्ति है । मनुष्यमात्र का प्रेम-चित्रण तो कविता की मूल है, पर जहाँ लेखक की निजी स्वानुभूति का वर्णन अपने ही शब्दो में है, वहाँ पर वह प्रेम-प्रगीतों के अन्तर्गत होता है ।

प्रेम-प्रगीतो में प्रकृति और देश के प्रति लिखे गये रूपो मे अधिक तीव्रता आधुनिक युग के काव्य में विशेषरूप से प्रसाद, महादेवी, पन्त आदि की कविता मे मिलती है ।

ग्रामगीत

प्रगीतो का अतीव स्वाभाविक रूप ग्रामगीतों में देखने को मिलता है । ये ग्रामगीत ग्राम्य मनुष्यो और विशेष कर नारियो के द्वारा किसी त्यौहार, उत्सव, संस्कार के अवसर पर या नित्यप्रति काम करते समय गाये जाते है । इनके भीतर उस अवसर के अनुकूल व्यक्ति की वडी तीव्र भावना अन्तर्निहित रहती है । और स्वानुभूति का स्वर हृदय पर स्थायी चोट करनेवाला होता है । इनकी विशेषता अवसर विशेष की व्यापक अनूभूति को वैयक्तिक तीव्रता के साथ वर्णन करने में है । अवधी के पास ऋतु, त्यौहार, उत्सव, सस्कार आदि के अवसर पर गाये जानेवाले ग्रामगीतो का विस्तृत भडार है जिसकी

विविधता भी कम आकर्षक नही। वैसे तो हिन्दी की सभी बोलियो में अपने विशेष ग्रामगीत है, जिनमें से बहुत कुछ साहित्यिक महत्व भी रखते है। पर अवधी का इनमें विशेष स्थान है। इनकी भाषा अपढ और जनसाधारण की भाषा होने के कारण साहित्यिको द्वारा इन पर उपेक्षा का परदा डाला रहा है।

किन्तु वास्तव में तथ्य ऐसा नही है। पहली बात तो यह है कि भाषा चाहे जो हो, उसमें भाव और विचार साहित्यिक भाषा में लिखे गीतो से कम व्यापक और उत्कृष्ट नही है। फिर उनके अन्तर्गत हमारी प्रतिष्ठित सस्कृति के पारस्परिक व्यवहार और प्रेम, सामाजिक जीवन के आदर्शो की सुन्दर झलक और विशद झाँकी है। भाषा भी काफी जोरदार है और हिन्दी के बहुतेरे गण्यमान कवियो की भाषा का ही प्रयोग इनमें मिलता है, अतः उन्हें साहित्यिक क्षेत्र से हटा देना उनके साथ अन्याय करना है। भाषा और भाव दोनो की सबलता उदाहरणो द्वारा स्पष्ट हो जायगी। जहाँ तक प्रभाव का प्रश्न है, अवसर विशेष पर ग्रामगीतो के समान प्रभाव डालनेवाली दूसरी बात नही है, क्योकि उसमें अपनी अनुभूति छिपी है। प्रभाव, सगीत और अनुभूति के सीधे ढग के कारण ही ये हिन्दी प्रगीतो का एक महत्वपूर्ण वर्ग स्थापित किये है।

ग्राम्यजनों का दैनिक जीवन गीतो से भरा हुआ है। प्रभात के समय नारियाँ जब चक्की पीसती है उस समय उषाकाल की शान्त, शीतल और सुरभित वायु को मधुर स्वरलहरी से भर देती है, जो एकरस चलनेवाली चक्की की घर्र-घर्र के साथ विषमता ही नही पैदा करती, उसे भी माधुर्य और सरसता देती है, जैसे उजाड में उगे हुए कुछ हरे-भरे पौधे। सबसे सुन्दर समय में गाये जाने और नारियो के कोकिल-कण्ठो की मधुराई से युक्त होने के साथ-साथ ही गीत स्वतः सुन्दर कल्पना और गहरे भावो से भरे-पूरे होते है। प्रभात के बाद दिन के समय जब गाँव के लोग वर्षा के दिनो खेतो में निरौनी करते होते है अथवा किसी पेड की डालपर बैठे गायो को चराते है और कोई हलका काम करते है, तब एकाध गीत की लडी पास के बगीचो में प्रतिध्वनि करती हुई सुन पड़ती है। वर्ष की भिन्न-भिन्न ऋतुओ के लिए अवसर के अनुकूल गीत होते है। जैसे हिंडोल, चौमासा बारहमासा, दीवाली, होली फाग, धमार और इसी प्रकार से पूजा, बटगमनी-लोरी आदि के गीत है। पावस हमारे लिए ग्रीष्म के बाद आनददायी परिवर्तन उपस्थित करता है इसीलिए भारतवर्ष में इस समय अचानक गीतो का भी प्रस्फुटन होता है। यह आनद पशु-पक्षी, कीड़े-पतंगो तक में देखा जाता है। चारो ओर चहक

मचती है, तब मनुष्य का आनदविभोर होकर गाना तो और भी स्वाभाविक है। इस समय के गीतो में बडा आनद भरा रहता है। हृदय के उच्छ्वास के समान ही सहज निकले हुए ये गीत होते है, इनमें जीवन का उल्लास अथवा निराशा भरी रहती है अतः इनका बडा प्रभाव है। विशेष अवसरो पर गाये जानेवाले ग्राम गीतो में सोहिल, जनेऊ, बधाई, विवाह आदि के गीत विशेष प्रसिद्ध है। इनमें से किसी में उल्लास की भावना है और किसी में विषाद की अनुभूति। इन ग्रामगीतो में नीचे लिखी विशेषताएँ मिलती है :—

१—पहली यह कि पूरे गीत में एक ही भाव वहता है।

२—दूसरे ये व्यक्तिगत अनुभूति के सीधे और सहज प्रकाशन है, यद्यपि प्रभाव सर्वव्यापी हैं।

३—अनुभूति पर प्रभाव डालनेवाले, अवसर विशेष के अनुकूल स्वाभाविक और सहज प्रकाशन अपनाया गया है।

४—केवल वर्णन नही, वरन् भावानुभूति ही की प्रधानता रहती है।

५—ये अकेले अवथा समूह के द्वारा, ढोलक मँजीरा या और वाजो के साथ गाने के लिए रचे गये है।

६—अधिकाश शब्दो और पदो की पुनरावृत्ति उन्हे सहज स्मरणीय वनाने के हेतु है।

७—अपनी विशेष सस्कृति की झलक दिखलाते हुए इनमें विश्वव्यापी भावो का चित्रण है।

इन विशेषताओ के साथ ग्रामगीतो के अन्तर्गत साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ है, भाव और भाषा दोनो का सौन्दर्य है और इनकी विशेषताएँ इन्हे प्रगीत का सौन्दर्य प्रदान करती है।

हमारा भारतीय समाज ग्रामगीतो में वडा ही समृद्ध है और हिन्दी के अन्तर्गत मिथिला, अवध, वुन्देलखण्ड, व्रज और राजस्थान के ग्रामगीत सम्मिलित है जिनमें यद्यपि अपनी विशेषता है फिर भी मौलिक वातो में भिन्नता नही। उनकी विशेषता का अध्ययन करना विषय के विस्तार को और भी वढा देगा। जो विशेषताएँ अवधी गीतो की है, लगभग वही सभी में पाई जाती है। इस वात पर जोर देने की आवश्यकता है कि ये गीत हिन्दी काव्य की सम्पत्ति है और सामाजिक सस्कृति के इतिहास में इनका महत्वपूर्ण स्थान है, इसलिए इनकी ओर उपेक्षा नही की जा सकती। ग्रामगीतो के आदर्श पर हमारा सजीव साहित्य रचा जा सकता है, जिसमें कि सामाजिक

बुराइयो का समाज के हृदय पर भावात्मक प्रभाव डाला जा सके और हमारे नित्यप्रति के जीवन में प्रकृति का सौदर्न्य और मनुष्य का शील और सम्वन्ध भली प्रकार भरा जा सके। ग्रामगीतो में हमें इस प्रकार की झलक मिलती है पर खेद की वात यह है, कि साहित्यिको की उपेक्षा के कारण उनकी प्रभावशाली धारा सूख सी गई है।

हम में से वहुत लोग यह सोचते है कि ये ग्रामीणो के द्वारा वनाये गये गीत क्या साहित्यिक महत्व रखते होगें! परन्तु जव हम उनके सम्पर्क में आते है, तव पता चलता है कि उनमें वड़े सवल भाव जोरदार शव्दो में प्रकट किये गये है। स्त्रियो द्वारा गाये जानेवाले गीत अधिकतर स्त्री जाति के द्वारा ही वनाये गये है† और मनुष्यो ने अपने गाने के लिए वनाये। इनके अतिरिक्त सूर, तुलसी, कवीर, मीरा, के पद तो प्रचलित है ही।

इन ग्रामगीतो को हम दो वर्गो के अन्तर्गत विभाजित कर सकते है:—पहले वर्ग के भीतर वे गीत है, जो किसी विशेष अवसर पर गाये जाते है। जैसे—जन्म, मुन्डन, कर्णवेध, जनेऊ, विवाह, तथा झूला, होली आदि; और दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे गीत है जो नित्यप्रति के काम के साथ गाये जाते है। जैसे:—जाँत, चक्की, धान रोपना, खेत निराना, वटगमनी आदि। दोनो प्रकार के गीत करुण उद्‌गारो और मर्मस्पर्शी वर्णनो से भरे रहते है। ग्रामगीतो को हम अत्यधिक भावात्मकता, सहज और सीधे प्रकाशन और बोलचाल की सजीव जोरदार भाषा के आधार पर दूसरो से अलग मान सकते है। जहाँ अन्य सभी भेदो में कलात्मक उद्देश्य है, वहाँ इनमें जोरदार अनुभूति का सीधा और खडा प्रकाशन। इस कारण इनका प्रभाव तुरंत सीधा और गहरा होता है। इनमें स्वाभाविक सहज उद्‌गार है और ऐसी कोई भी वात नही जिसके लिए किसी को सिर खुजलाना या ठुड्डी पर हाथ रखकर सोचना पडे। गहरे से गहरे सकेत स्वभावत खुलते चले आते है और हम एक के वाद और दूसरी गहरी लहर में मग्न होते जाते है। उनमें कुछ भी सोचने और ढूँढ निकालने की वात छिपी नही रहती, फिर भी एक गीत पढने या सुनने के वाद आगे वढना कठिन हो जाता है, क्योकि भावो

---

† "हमने गीतों का गहरा अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि स्त्रियों के गीतो में पुरुषों का मिलाया एक शब्द भी नहीं है। स्त्रीगीतो की सारी कीर्त्ति स्त्रियो के हिस्से की है।"

रामनरेश त्रिपाठी—कविताकौमुदी, पाँचवा भाग—भूमिका।

की हिलोर चोटी से एँडी तक और इतनी गहरी होती है कि श्रोता उसी में डूबा रह जाता है और मधुर अनुभूतियाँ जगती और सचेत होती चली आती है। उच्छ्‌वास के साथ गद्‌गद्‌ हो जाना, पुलक के साथ आँसू भर आना और अकेले पडे भाव में डुबकी लगाते रहने में इनका विलक्षण आनद छिपा है। ग्रामगीत सगीत के वे स्वर है जिनका भाव ग्रहण करना सरल और याद रखना सरलता है। जब व्यक्ति उनके द्वारा वर्णित भावो में बहते है, तब एक नई स्फूर्ति मिलती है। भाव परिष्कृत हो जाते है, हृदय धुलकर साफ हो जाता है, किन्तु श्रोता भरे ही रह जाते है। वे भाग्यशाली है, जो ग्रामगीतो को उस बोली के नित्यप्रति बोलने वाले के मुखो से उपयुक्त अवसर पर शब्द-शब्द के लोच के साथ सुनते है।

अस्तु, ग्रामगीतो के पहले वर्ग के अन्तर्गत विशेष अवसर, उत्सव, तथा ऋतुओ पर गाये जानेवाले गीत है। सोहिल या सोहर वह गीत है जो बच्चो के जन्म के समय अधिकाश गाया जाता है। यह बहुत ही प्रचलित और प्रसिद्ध गीत है और इनके गाने की धुनि भी विशेष है, जिसे सुनकर लोग समझ सकते है कि यह सोहर है। नीचे का उदाहरण देखिये —

"जो मै जनतिउँ ये लवँगरि एतनी महकिहउ,
लवँगरि रँगतिउँ छयलवा कै पाग सहरवा मा गमकत।
अरे अरे कारी बदरिया तू हूँ मोर बादरि,
बदरी जाइ बरसउ ओइ देश जहाँ पिय छाये।
बाइ बहै पुरवइया त पछुआ झकोरइ।
बहिनी दिहेउ किवरिया ओढ़काइ सोवउँ सुखनीद री॥
की तू कुकुरा बिलरिया सहर सब सोवइ,
की तुम ससुर पहरुआ किवरिया भड़कावउ।
ना हम कुकुर बिलरिया ना ससुर पहरुआ,
धन हम आही तोहरा नयकवा बदरिया बोलायेसि।
आधी राति बीतगई बतियाँ, नियाई राति चितियाँ।
बारह बरस का सनेह जोरत मुरगा बोलइ।
तोरौं मै मुरगा कै चोच गटइया मरोरौ,
मुरगा काहे कियेहु भिनुसार त पियेहि बतायेउ।
काहे रानी तोरउ चोच गटइया मरोरौं।
रानी, होइ गै धरमवा कै जून, भोर होत बोलेउँ॥"

यह प्रगीत कितना प्रभावपूर्ण है। प्रेम की चरम सीमा वहाँ है जहाँ पर

पत्नी स्वय पति से अनजाने बात कर रही है। गीत की दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवी पक्तियाँ भाव के साथ-साथ प्रकृति के सकेत भरे चित्रण हैं। अन्त में दोनो की भेंट और मुर्गे का बोलना भाव की पूर्ण अनुभूति में सहायक होते हैं। प्रेम की गहराई के परिणाम-स्वरूप ही मुर्गा पर डाँट पडती है; पर यही भारतीय सस्कृति की झलक है। मुर्गा नही डाँटनेवाले की आत्मा ही मुर्गा के द्वारा बोल उठती है, "होइगै धरमवा कै जून" धर्म की वेला है। प्रेम की गंभीरता के साथ-साथ भाव की उत्कृष्टता देखिये, यह भारतीय जीवन और ग्राम्य जनो के विश्वास की एक झलक है। विभाव, अनुभाव, सचारी, स्थायी सभी आकर रसानुभूति को पूर्ण बनाते हैं। इसी प्रकार का एक दूसरा सोहर गीत है। इसमें बड़ी व्यापक करुणा भरी है और एक सामाजिक विषमता पर व्यंग्य भी। धनिको तथा राजाओ का आनंद-मगल निर्धनो और बेबस लोगो की हितहानि और हत्या के आधार पर सधता है। राजकुमार की छठी है, राजा शिकार को जाते हैं और हिरन मारते हैं। हिरनी इसको विचार कर पहले से ही दुखी थी। हिरनी हिरना के मारे जाने पर रानी के पास जाती है और रानी से हिरन की खाल इसलिए माँगती है कि वह उसकी खाल को देखकर धीरज धरेगी। किन्तु रानी निर्दयता से इन्कार कर देती है। यह कहकर कि इसकी खँजड़ी बनेगी और राजकुमार खेलेंगे। हिरनी चली जाती है, खँजडी बनती है और जब-जब खँजडी का शब्द उसे सुनाई पडता है वह ढाक के पेड के नीचे खडी होकर हिरना की सुध करने लगती है—

गीत इस प्रकार है—

"छायक पेड छिउलिया न पतवन गहवर।
अरे रामा तेहि तर ठाढी हरिनिया त मन अति अनमन।
चरतै चरत हरिनवा त हरनी से पूँछइ।
हरिनी की तोर चरहा झुरान कि पानी बिनु मुरझिउ।
नाही मोर चरहा झुरान न पानी बिनु मुरझिउँ,
हरिना आज राजा जी के छट्ठी तुम्हे मारि डरिहैं।
मचियै बैठि कौसिल्या रानी, हरिनी अरज करइ,
रानी मसवा त सिझइ रसोइया खलरिया हमै देतिउ।
पेड़वा ते टँगतिउँ खलरिया तौ फेरि फेरि देखतिउँ,
रानी देखि देखि मन समुझाइत जानित हरना जीतइ।

जाउ हरिनी घर अपने खलरिया नाँही देबइ,
हरिनी खलरी क खँजड़ी मढ़इबे राम मोर खेलिहैं।
जब जब बाजइ खँजड़िया सबद सुनि अनकइ,
हरिनी ठाढ़ि ढकुलिया के नीचे हरिन का बिसूरइ।।"

अतिम चित्र हमारी आँखो के सामने से कभी नही जा सकता है। ग्राम-गीत ऐसे ही चित्रो से भरे पडे है।

दूसरे प्रकार के महत्वपूर्ण गीत जनेऊ के समय के है। प्रारम्भिक शिक्षा पाने के वाद जनेऊ होता है और फिर ऊँची शिक्षा के लिए वह प्रस्थान करता है। दोनो प्रकार की शिक्षाओ के बीच के समय में 'यज्ञोपवीत'-सस्कार होता है। यज्ञोपवीत के लिए उद्यत वालक को बरुआ (ब्रह्मचारी) कहते है। इन गीतो में प्राय वालक के उच्चशिक्षा पाने के लिए दृढ विचारो का वर्णन रहता है। इस प्रकार की पवित्र भावना का वर्णन नीचे लिखे छन्द में देखिये —

"नदिया के ईरे तीरे बरुआ से बरुआ पुकारे।
आजा पठै देव नाव नेवरिया, बरुआ चला आवै।
ना हमरे नाव नेवरिया नाही घर खेवट,
जेकर जनेउवा के साध पैरि नदिया आवै।
भीजै मोरे अंग कै अँगिया औ सिर कै पगिया,
भीजै मोर सबै सिंगार जनेउवा कै साध।
देहौं मै अग कै अँगिया औ सिर कै पगिया।
देहौं मै सोरहो सिंगार जनेउवा के कारन।।"

विवाह के समय के गीत सवसे महत्व के है। महीनो पहले से तैयारी होती है और सात-आठ दिन पहले से उसके सस्कार ही प्रारम्भ हो जाते है। यह वडा ही पवित्र और गभीर सस्कार है, पति और पत्नी के द्वारा पंडितो की आज्ञानुसार की हुई प्रत्येक क्रिया पर गीत गाये जाते है। समूह में बैठी हुई स्त्रियाँ गीत गा-गा कर भावो को उभार देती है और सस्कार का एक-एक कृत्य स्मरणीय महत्व रखता है। इसके द्वारा समाज की और-और प्रथायें भी व्यक्त होती है। जहाँ पर विवाह में मित्र और सम्वन्धियो को निमन्त्रण भेजा जाता है वही पर आग,पानी, वायु, साँप, विच्छू और अनेक देवी-देवताओ तथा पितरो को भी आमन्त्रित किया जाता है। वे या तो बुलाये जाते है या उनसे इस शुभ अवमर पर दूर रहने की

प्रार्थना की जाती है। इस प्रकार से विवाह के अवसर पर अनेक गीत गाये जाते हैं जिनका विवरण देना कठिन है। ये गीत आनददायी भी है और करुणा से भी भरे है। बालिका के घर में गाये जानेवाले गीत विशेष रूप से करुण है, क्योंकि विवाह के बाद उसका माता, पिता, बहिन, भाई, सम्बन्धियो से सम्पर्क छूट जाता है, किन्तु वर के घर गाये जानेवाले गीत आनद और उल्लास की भावना से भरे होते हैं। नीचे लिखे गीत में कन्या वर के सम्बन्ध में अपने भाव व्यक्त करती है :—

बावा जी चले मोरा बर हेरन पाट पटम्बर डारि।

... ...

छोट देखि बाबा करबै न करिहै, बड़ा नाहीं नजरि समाय।
और-और बाबा सुघर बर हेरेउ हम बेटी तुम्हरी दुलारि॥

... ...

आसन देखि बाबा डासन दीन्हौ मुख देखि दीन्हौं बीरा पान।
अपनी सम्पति देखि दाइज दीन्हौं, बर देखि दीन्हो कन्यादान॥

इस प्रकार के गीतो का सामाजिक महत्व है। वर को खोजते समय व्यक्ति सभी आवश्यक बातो को समझ लेता है। और उनका ध्यान रखता है। नीचे सुहागरात का गीत है, नव विवाहिता पत्नी गाती है :—

"आजु सोहाग कै राति चंदा तुम उइयो।
चंदा तुम उइयो सुरज जनि उइयो॥
मोरा हियरा बिरुस जनि करियो मुरुगा जनि बोलियो।
मोरी छतियाँ बिहरि जनि जाइ तू पौ जनि फटियो॥
आजु करियो बड़ी राति चंदा तुम उइयो।
धीरे-धीरे चलियो सूरज बिलम करि अइयो॥

विवाह के अवसर के अनेक गीत है। जेवनार, गारी उनमें बड़ी मधुर होती है। विवाह के गीत बड़े ही भावपूर्ण और विशद वर्णन से पूर्ण होते हैं।

इसी प्रकार वर्षा ऋतु के गीत भी बडे ही मननोहक होते है। उनमें ऋतुगत आनन्द और उल्लास की विशेषता रहती है। उन्हें चौमासा, बारहमासा या कजली के रूप में हम सुन सकते है। बाग में अथवा गाँव के किनारे बड़े पेड़ में झूले की पैंगो के साथ-साथ अनेक मुखो से जो एक गीत की स्वरलहरी

निकलती है, उसकी मधुरिमा अतुलनीय है। ये कजरी और बारहमासे तो बहुत प्रसिद्ध है, उदाहरणो की भी आवश्यकता नही, केवल दो-एक पक्तियाँ इस ऋतु के गीतो की नीचे दी जाती है —

"झूला किन डारो अमरैयाँ।
रैनि अँधेरी ताल किरारे बुनियाँ परै फुइयाँ फुइयाँ।"

इत्यादि।

यह बुदेलखण्डी गीत की पक्तियाँ थी अब ब्रज के गीत की दो पक्तियाँ देखिये —

"बेला कौने बोयो नदिया तीर रे, बेला कौने लगायो नदिया पार।
उमड़ि घुमड़ि आये सावन के बदरा, बरसत अँखियन धार
कैसे कै जाऊँ ए री नदिया किनारे, कैसे कै गूँथूँ बेला-हार॥"

इत्यादि।

होली, दीवाली और बसन्त के गीत भी बहुत प्रचलित है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक अवसरो पर गाये जानेवाले गीत है, जिनमें प्रगीतात्मक काव्य की सुन्दर और मधुर धारा प्रवाहित रहती है और जिन सबका वर्णन विषय को अत्यधिक विस्तार देगा, जो अनावश्यक है।

दूसरे वर्ग के गीतो में व्यक्तिगत भावना के द्वारा सामाजिक अथवा पारिवारिक जीवन का विशद चित्रण है। नित्यप्रति हृदय में उमगनेवाले भाव बडी खूबी के साथ व्यक्त किये गये है। ओज आनेवाली दो पक्तियो में एक आकुल माता, अपनी पुत्री के विवाह की समस्या पर चिन्तित और व्यथित होकर किस प्रकार घर में पले हुए सुग्गे से अपनी बात कह रही है —

"सावन सुअना मै घिउ गुर पालेउँ चैत चना की दाल।
अब तू सुअना भयेउ सजुगवा बेटी का बर हेरइ जाव॥"

वर्षा ऋतु सम्पूर्ण विश्व को एक नवीन जीवन से भर देती है। जिनके पति परदेश में है वे स्त्रियाँ उनके घर आने की प्रतीक्षा में रहती है। दिन-दिन की प्रतीक्षा उन्हें विकल बनाती है। एक स्त्री जिसका पति घर नही आया यद्यपि, काली-पीली बदरियाँ आकाश में छा रही है किस प्रकार से उसके बुलाने का आयोजन करती है:—

"कारिक पियरि बदरिया झिमिकि दैव बरसउ।
बदरी जाइ बरसउ उहि देश जहाँ पिय कोड़ करै।

भीजै आखर वाखर तँवुआ कनतियाँ।
अरे भितरां से हुलसै करेज समुझि घर आवै ।।"

वादल के हाथो सँदेशा भेजने की प्रथा पुरानी है, भारतीय साहित्य में इसका अधिक उपयोग किया गया है। पति के वाहर रहने पर एक घर के भीतर वन्द रहनेवाली स्त्री अपनी स्वच्छन्दता रहित दशा पर किस प्रकार शोक प्रकट कर रही है:—

"सकल चिरैया उड़ि उड़ि जैहैं अपनी अपनी जून।
मैं तो पापिन परेउँ पिंजरवा मरउँ विसूरि विसूरि ।।"

आदि।

गाँवो में वहुतेरे लोग ऐसे होते हैं जिन्होने अपने जीवन भर भोजन-वस्त्र आदि दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति का आनन्द क्या होता है, यही नही जाना। वहुतेरे आधे पेट रहते हैं और वहुतेरे अधनगे। यह अवस्था गाँव में अधिकाश की है अत. इस प्रकार की एक दीनता की मनोवृत्ति वन गई है। इस प्रकार की मनोवृति प्रकट करनेवाले भी गीत हैं। इस प्रकार के गीत हमारे हृदय में करुणा भरी सहानुभूति उकसाते हैं। नीचे उद्धृत एक गीत का भाव देखिये .—

"धै देत्यो राम हमारे मन धिरजा।
सबके महलिया रामा दियना वरत है हरि लेत्यो हमरौ अँधेर।
सबके महलिया रामा जेवना वनत है, हरि लेत्यो हमरौ भूख।
सबके महलिया रामा सेजिया दसतु है हरि लेत्यो हमरौ नींद ।।
हमारे मन धिरजा।"

इतना ही नही युवावस्था की सवल और आनददायी मौज पर गरीवी व वुभुक्षता ने किस प्रकार तुषारपात किया है, यह नीचे लिखी दो पक्तियाँ वतलाती है :—

"भुखिया कै मारे विरहा विसरिगा, भूलि गई कजरी कबीर।
देखि कै गोरी कै मोहनी सुरति अब, उठै न करेजवा मा पीर।"

इक कलाहीन गीतो में कितनी टीस, कितना प्रभाव छिपा हुआ है, इसका अनुमान प्रत्येक सहृदय कर सकता है।

व्यक्तिगत अनुभव के साथ सामाजिक जीवन का चित्र उपस्थित करने के अतिरिक्त एक दूसरी विशेषता इस वर्ग के गीतो में है। गीतो के प्रारम्भ में

स्वतत्र प्रकृति के सकेत भरे भावमय चित्र उपस्थित कर दिये जाते है, जिनमे प्रतिबिम्बित होकर भाव मानो और अधिक गहराते जाते है। प्रकृति की यही सूक्ष्म और सक्षिप्त पीठिका जो इन गीतो में सहज रूप से विद्यमान रहती है, भाव को चिर सौन्दर्यमय बना देती है। कविता कौमुदी (भाग ५) की भूमिका में प० रामनरेश त्रिपाठी ने इन गीतो की प्रकृति वर्णन की विशेषता पर लिखा है :—'ग्रामगीत प्रकृति के उद्गार है उनमें अलकार नही केवल रस है, छन्द नही, केवल लय है, लालित्य नही केवल माधुर्य है" और "प्रकृति सगीतमय ह। ग्रहगण एक नियत कक्षा में फिर कर उस सगीत का कोई स्वर सिद्ध कर रहे है। झरनो के अविराम नाद पत्तो की मर्मर ध्वनि, चचल जल का कल-कल, मेघ का गरजना, पानी का छमाछम बरसना आदि का कार्यक्रम, कलियो का चटकना, विक्षुब्ध समुद्र का महारव, मनुष्यो की भिन्न-भिन्न भाषाएँ और विचित्र उच्चारण, खग, पशु, कीट, पतग आदि की बोलियाँ ये सब उस सगीत के सहायक मद्र और तार, स्वर और लय है। बज्रपात थाप है और नदियो का प्रवाह मूर्च्छना। ग्रामगीत प्रकृति के उस महासगीत के अश है।"

ग्रामगीतो पर उपर्युक्त कथन में त्रिपाठी जी कुछ अधिक काव्यात्मक हो गये है, पर इस कथन में सत्यता है। स्वाभाविक भाषा, वर्णन, मौन सकेत, और भावानुभूति की निकटता इन गीतो के सौन्दर्य है। और लगभग सभी ग्रामगीतो में प्रकृति की ओर कुछ न कुछ सकेत अवश्य रहता है। अतः प्रकृति के सुन्दर सकेतवाले कुछ गीतो को देखना चाहिए।

गार्हस्थ्य जीवन बिना बालको के अधूरा है। चाहे जितना सुख और चाहे जितनी सुविधाएँ हो, चाहे कितनी धन-सम्पत्ति और वैभव हो, बिना बच्चो के सभी सूना है। यही भाव प्रकृति के प्रतीको के माध्यम द्वारा नीचे की पक्तियो में व्यक्त है —

"आधे तलवा मा हंस चुनै आधे मा हसिनि,
तबहूँ न तलवा सुहावन एक रे कँवल बिनु।
आधी फुलवरिया गुलबवा आधी मा केवड़ा गमकइ,
तबहूँ न फुलवा सुहावन एक रे भँवर बिनु॥"

इत्यादि।

नीचे की पक्तियो में प्रकृति का सकेत भरा वर्णन देखिये —

"मोरे पिछवारे लवँगिया की बगिया, लवँगा फूलै आधीरात रे।
तिहि तर उतरैं दुलरुआ, तुरही लवँगवा के फूल॥"

लौंग के फूल 'तुरही' के आकार के होते है। वे तुरही के आकार के

फूल मानो पति के आगमन की सूचना में बज उठते हैं। इससे यह भी संकेत है कि आधी रात का समय हो गया है, क्योकि लौंग आधी रात को फूलता है। कितनी सुन्दर उपमा और कितना सुन्दर संकेत है। इसके अन्तर्गत ग्राम-भावाभिव्यक्ति की समृद्धि भरी दीखती है। इसी प्रकार प्रकृति का माध्यम लेकर एक करुण भाव का प्रकाशन देखिये —

"बेइलि एक हरि लायनि, दुधवा सिंचायेनि।
आप हरि भये बनजारा, बेइलि कुम्हिलानि।"

पेड़-पौधे, बेलो और पशु-पक्षियो तक में प्रेम की भावना देखना उनके बीच सदा रहनेवाले ग्राम्यजनो का ही काम है। हिंडोले के गीत के साथ यह वर्णन देखने योग्य है —

"गहरी जमुनवाँ के तिरवा चनन गछ रुखवा हो।
तिन डरिया परे है हिंडोलवा झुलहिं रानी रुकुमिनि हो।
झुलतहिं झुलत अबेर भा है औरो देर भा है हो।
मेरा टुटला मोतिन केर हार जमुन जल भीतर हो।
धावहु बेगि चकइया तू हाली बेगि आवउ हो।
चकई! चुनि लेव मोतिन क हार जमुन जल भीतर हो।
अगिया लगावौं तोरा हरवा बजर परै मोतिन हो।
बहिनी सँझवै से चकवा हेरान ढूँढ़त नहिं पायँउँ हो॥"

चकवी चकवे की खोज में है इसके द्वारा दाम्पत्य प्रेम कितना संकेत भरा वर्णन है। ऐसे ही नदी को सम्बोधित करके, एक स्त्री कहती है —

"धीरे बहो, नदिया धीरे बहो, मोरे पिया उतरैंगे पार।
काहे की तोरी नैया रे, काहे की करुवारि।
कहाँ तोरा नैया खेवैया रे, के धन उतरइ पार।
धरम कै मोर नैया रे, सत कइ लागि करुवारि।
सैंया मोरा नाव खेवैया रे, हम धन उतरब पार॥"

यह संक्षेप में अवधी के ग्रामगीतो की प्रवृत्ति का परिचय है। ऐसे ही सभी बोलियो में है। हिन्दी के ग्रामगीतो की संपत्ति अतुलनीय है। विशेष अवसरो पर, इसी प्रकार की गहरी भावना और ऊँची कल्पना तथा प्रकृति के वर्णन से समृद्ध मैथिली, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगाली, आदि के भी ग्रामगीत है जो भारतीय ग्राम-समाज के भावात्मक जीवन का परिचय देते है। प्रगीतात्मक काव्य के अन्तर्गत इनका विशिष्ट स्थान है।

हिन्दी में गीतिकाव्य का विकास

गीतिभावना, कविता के अन्तर्गत सार वस्तु है। आधुनिक हिन्दी काव्य में इस भावना के दर्शन विविध और विशद रूप में होते हैं, और हम कह सकते हैं कि आज के कवि में गीतिकाव्य की प्रवृत्ति, प्रधान रूप से देखने को मिलती है। पर, यदि यह कविता की सार वस्तु है, तो इसका अस्तित्व काव्य-क्षेत्र में हमें सदैव से ही देखने को मिल सकता है। हम आगे देखेंगे कि गीति की स्पष्ट सत्ता के न रहते हुए भी किस प्रकार यह भावना हमें प्राचीन, मध्य और वर्तमान सभी कालो में विद्यमान मिलती है। सबसे पहले हम इस वात पर विचार करेंगे कि गीति-भावना का क्या महत्व है और कविता के अनेक रूपो के अन्तर्गत इसका अस्तित्व किस प्रकार रहता है। पद्य काव्य या कविता के तीन रूप हम देख सकते हैं। एक तो नाटकीय कविता, दूसरी प्रवन्ध-कविता और तीसरी मुक्तक कविता।

इन तीन रूपो में मुक्तक कविता के अन्तर्गत, कुछ नीति-उपदेश-युक्त साधारण कविता को छोडकर प्राय. गीति-भावना, प्रधान रहती है। गीति-भावना की विशेषता को हम तीन रूपो में देख सकते हैं। प्रथम गेयत्व है, द्वितीय स्वानुभूति का भाव और तृतीय कोमल भाव की सघनता है। अत· गेयत्व और सघन आत्मानुभूति जिस कविता मे एक साथ पाई जाती है, उसी को गीतिकाव्य मानना चाहिए। उपर्युक्त तीनो विशेपताएँ यथार्थतः उसकी आभ्यन्तर और वाह्य विशेषताएँ हैं। हम गीति की आभ्यन्तर विशेपता इस वात में मानते हैं कि उसके भीतर आत्मा की,—अपनी निजी-अनुभूति प्रगट हो। वर्णन चाहे किसी वस्तु का ही हो, पर गीति के भीतर आकर वह वर्णन वस्तु का सामान्य, कल्पनागत वर्णन न रह कर, कवि की अपनी अनुभूति के भीतर आया हुआ वर्णन हो जाता है और वह न केवल वस्तु की आत्मा और उसकी विशेषताओ का ही परिचायक होगा, वरन् उसके भीतर कवि की आत्मा, उसकी भावनाएँ, प्रतिविम्वित और झाँकती हुई मिलेंगी। अतः गीति की प्रमुख विशेषता आत्मानुभूति हुई।

इस विशेषता के अन्तर्गत कवि की अनुभूतियो का प्रकाशन, उसकी अपनी सामाजिक, सास्कृतिक विशेषताओ के आधार पर, अवश्य रहता है पर हम उसे देख नही सकते। हम यह अवश्य देख लेते है, कि कवि की भावना बडी सबल है और सीधे हमारी अनुभूतियो और प्रेरणाओ को जगाती चलती है। कवि की पावन, शुद्ध पारदर्शी दृष्टि, वस्तु के भीतर कुछ ऐसे रहस्यपूर्ण और गुप्य तथ्य देखती है जो हमारे लिए नवीन होकर भी सत्य और तथ्त-पूर्ण है। यह कवि की सूझ है, उसकी पवित्र व्यापक अनुभूति है और उसको साथ लेकर चलनेवाली सूक्ष्म कल्पना है, जो वर्णन को इतना अपना लेती है कि वस्तु, अपनी—हृदय की सगी—हो जाती है और अपनाव के साथ-साथ हमारी असख्य भावनाएँ उससे सम्बन्धित होकर ऐसी जाग उठती है कि फिर उनको सुलाना कठिन है। वे जग कर एक प्रेरणा भरती है और तब हम समझते है कि कवि कितना प्रतिभा-सम्पन्न और अन्तर्दर्शी है।

गीति की अन्य विशेषता भी जो उसके बाह्य रूप से सम्बन्ध रखती है, यथार्थ में उसकी स्वानुभूति पर ही अवलम्बित है। अनुभूति की तीव्रता में कवि स्वाभाविक रूप से गा उठता है, उसके सहज उद्‌गार गेय रूप में ही प्रवाहित होते है। अतः गीति की गेयता भी स्वतःसिद्ध-सी है। गेयत्व का एक और रहस्य है। किसी भी भाव का अनुभव हम बार-बार करना चाहते है। गीति की स्वर-लहरियाँ ऐसी ही होती है कि बार-बार कही जाकर अनुभूति पर मधुर प्रभाव डालें। बार-बार कहने पर आनन्द देना गान की विशेषता है। साधारण बात को हम उतने ही बार कह कर प्रत्येक बार वैसा आनन्द नही ले सकते जितना किसी गान की एक पक्ति को सैकडो बार दुहरा कर पाते है। स्वर की दीर्घता और सक्षिप्ति अनुभूतियो को उकसाती है, उसकी कोमलता कानो को मधुर लगती है और सवादन कल्पना को सजग और विकसित कर देता है। अत. 'गीति' की गेयता उसका आवश्यक गुण है।

अब हमें देखना यह है कि कविता का मुख्य सार यही गीति-भावना है। कविता के जो अन्य रूप मिलते है उन्हें काव्य के अन्य रूपो की विशेपताएँ मिलकर वह रूप देती हैं, पर सूक्ष्मतः विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कविता की विशेषता गीति-भावना के रूप में प्रायः विद्यमान् रहती है। अत हम विभिन्न स्वरूपो को लेकर अलग-अलग उसका विश्लेषण कर इस बात पर विचार करेंगे।

सर्वप्रथम हम नाटकीय कविता को लेते है। इस प्रकार की कविता में

कवि अपनी भावनाओ को विभिन्न पात्रो के वार्तालाप के माध्यम-द्वारा प्रकट करता है। इसमें कवि की भावना सीधे ढग से न प्रकट होकर दूसरो की अनुभूतियो के रूप में प्रकट होती है। इसमें वार्तालाप का, जो नाटक या उपन्यास का उपकरण है, आश्रय कवि लेता है, पर यह बात उसे कविता तब तक नही बनाती, जब तक कि, कवि स्वय पात्रो में प्रवेश करके, उस पात्र की आत्मानुभूति को प्रकाशित नही करता। कवि जब किसी पात्र की आत्मानुभूति अभिव्यजित करने में इस प्रकार समर्थ होता है कि पात्र के व्यक्तित्व अथवा उसकी आत्मा की झाँकी मिल सके, तभी उसका काव्य सफल है। वाह्य रूप की अथवा उपकरण की विभिन्नता होते हुए भी 'गीति-भावना' का जो स्वानुभूतिक तत्व उसमें विद्यमान रहता है वही उसे कविता का रूप देता है। अत कवि की मुख्य विशेषता, नाटकीय कविता में भी 'गीति भावना' के रूप में छिपी रहती है।

प्रवध-काव्य में कविता, कथानक का सहारा लेकर चलती है, अत घटना-धारा का सौदर्य भी उसमें आ जाता है पर यदि वह कविता है तो उस धारा में कवि की अपनी अनुभूति घुली-मिली अवश्य रहती है, कही-कही तो नाटकीय कविता की भाँति और कही-कही दर्शक के वर्णन की भाँति। इस प्रवन्ध-कविता में भी आनन्द की मात्रा आत्मानुभूति के साथ-साथ प्रखर होती जाती है, नही तो गतिमय उद्‌गारो और आत्मानुभूति के अभाव में प्रबन्ध-कविता और कहानी या उपन्यास में कोई अन्तर नही रहता।

उपर्युक्त विश्लेषण के उपरान्त हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कविता की मुख्य प्रेरणा आत्मानुभूति है और वही जब स्वाभाविक, गतिमय और गेय स्वर-लहरी में प्रकट होती है तो 'गीति' हो जाती है, अन्यथा अन्य उपकरणो और शैलियो का सहारा लेकर अन्य रूपो को धारण करती है। इसी स्वानुभूति की प्रधानता होने के कारण ही, कबीर तथा निर्गुण साधको को, कवि बनने का उद्देश्य न रहते हुए भी, कवि का गौरव मिला और इसी के अभाव मे कुछ कवि पूरे उपकरणो को लेकर चलते हुए भी प्रभावशाली कविता की सृष्टि न कर सके। अतः हम देखते है कि कविता के क्षेत्र में 'गीति' का अपना महत्व है।

यहाँ पर गीति-काव्य के सम्बन्ध में यह भ्रम भी दूर हो जाना चाहिए कि प्रत्येक गीत या गान, गीति-काव्य के अन्तगत रहता है। गीति के भीतर वही पद रखे जा सकते है जो लेखक की अपनी अनुभूति को अपने रूप में प्रकट करनेवाले हो, अन्य पद नही। इसी प्रकार कवि के स्वानुभूति-सम्बन्धी

वे कथन भी गीति के क्षेत्र के वाहर है जो सहज तथा स्वाभाविक नही है और जो गाये नही जा सकते अथवा जो नीति या उपदेश के रूप में है। अतः जहाँ पर दोनो ही विशेपताएँ मिलती है वही पर हम 'गीति' काव्य पाते है। गान या पद वे है जो सगीत के स्वरो के नियमानुसार, साज पर गाये जा सकें, उनमें आत्मानुभूति हो या न हो। गीति में आत्मानुभूति होनी आवश्यक है, पर उसका गेय सगीतात्मक शव्दचयन में ही बहुधा रहता है। गीति को हम दो रूपो में देख सकते है—एक शुद्ध गीति और दूसरे प्रगीतमुक्तक। शुद्ध गीति में स्वानुभूति-निरूपण करनेवाले गीत है जिनमें प्रायः प्रथम या द्वितीय पक्ति टेक के रूप में पद पूरा होने पर दुहराई जाती है और प्रगीतमुक्तक के अन्दर वे अन्य छन्द है जिनमें स्वानुभूति का तीव्र प्रकाशन, सगीतात्मक शव्दो में होता है, वे ललित स्वर के साथ पढे जा सकते है, शास्त्रीय पद्धति पर 'सेट' करके चाहे गाये न जा सकें। इस दृष्टि से देखने पर भारतीय साहित्य का अधिकाश गेय काव्य, गीति के क्षेत्र से वाहर है, क्योकि उसमें दोनो विशेषताएँ एक साथ नही मिलती है। परम्परा के रूप में हिन्दी-काव्य को सस्कृत से गीति के रूप में अधिक प्रेरणा नही मिली। जयदेव के 'गीत गोविन्द' का प्रभाव विद्यापति तथा अष्टछाप और कृष्णभक्त कवियो पर अधिक पड़ा। 'गीत गोविद' तथा विद्यापति के गीतो में शुद्ध गीति-भावना हमें देखने को नही मिलती और यही तथ्य अधिकाश में अष्टछाप और कृष्णभक्त कवियो के पदो के सम्बन्ध में भी सत्य है। ये कवि प्रायः राधाकृष्ण की लीला का वर्णन एक दर्शक के रूप में करते है और अन्तिम चरण में अपनी छाप डालने के साथ-साथ यह भाव भी प्रकट कर देते है कि वे भी उस वर्णन में कही दर्शक के रूप मे और कही वर्णन करनेवाले के रूप में उपस्थित थे। इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम विद्यापति, सूर, नन्ददास आदि के कुछ पदो को उद्धृत करेंगे, जिनमें उन्होने कृष्ण-लीला का वर्णन किया है और जो उनके काव्य के प्रतिनिधि पद कहे जा सकते है। प्रथम हम विद्यापति के विरह-प्रसग का एक पद लेते है:—

"मधुपुर मोहन गेल रे मोरा बिहरत छाती।
गोपी सकल बिसरलनि रे जल छल अहिबाती॥
सूतलि छलहुँ अपन गृह रे निन्दइ गेलउँ सपनाइ।
कर सो छुटल परसमनि रे को न गेल अपनाइ॥

कत कहबो कत सुमिरब रे हम भरए गरानि,
आनक धन सो धनवती रे कुब्जा भेल रानि ।
गोकुल चान चकोरल रे चोरी गेल चदा,
बिछुड़ि चलिल दुहु जोड़ी रे जीव दइ गेल धदा ।
काक भाख निज भाषह रे पहु आओत मोरा,
खीर खाँड भोजन देब रे भरि कनक कटोरा ।
भनइ 'विद्यापति' गाओल रे धैरज धरनारी
गोकुल होयत सोहाओन रे फेरि मिलब मुरारी ।"

उपर्युक्त पद में कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियो की विरह-दशा का वर्णन है । उनके भीतर कृष्ण के चले जाने पर दुख, पश्चात्ताप, खीझ, ग्लानि और साथ-ही-साथ आशा के भावो का सचार हो रहा है, पर है यह वर्णनमात्र । विद्यापति इसका वर्णन करते है, उनकी अपनी भावनाएँ ये नही है । वे तो उपदेशक-रूप में गोपियो को धैर्य धारण करने का ही उपदेश देते है और यह आशा दिलाते है कि गोकुल में कृष्ण आयेंगे और गोकुल सुहावना होगा । पूरे गीत में विद्यापति को कवि के रूप में स्वानुभूति नही, वरन्, दूसरे की अनुभूति के रूप मे है । अतः हम शुद्ध गीतिभावना के अन्तर्गत इसे नही रख सकते ।

इसी प्रकार सूरसागर से भ्रमर-गीत-प्रसग के अन्तर्गत हम बहुत ही अधिक गीति-भावना के समीप आ सकनेवाले नीचे लिखे पद को लेते है—

"फूल बिनन नहिं जाउँ सखी री ! हरि बिन कैसे बीनौं फूल !
सुन री, सखी ! मोहि राम दोहाई फूल लगत तिरसूल
वे जो देखियत राते राते फूलन फूली डार ।
हरि बिन फूल झार से लागत झरि झरि परत अँगार ।।"

× × ×

"कैसे कै पनघट जाउँ सखी री ! डोलौं सरिता तीर ।
भरि भरि जमुना उमड़ि चली है इन नैनन के नीर ।
इन नैनन के नीर सखीरी ! सेज भई घर नाउ,
चाहति हौं याही पै चढ़ि कै श्याम मिलन को जाउँ ।
प्रान हमारे दिन हरि प्यारे रहे अधरन पर आय ।
सूरदास के प्रभु सों सजनी कौन कहे समुझाय ।"

सूरदास के ऊपर लिखे पद में गोपियो को दशा का वर्णन है। अपनी विवशता, अपनी उत्कठा, अपने दुःख की भावनाओ का वर्णन एक गोपी दूसरी सखी से करती है। सूरदास का सम्बन्ध इस भावना से इतना ही है कि कृष्ण, जो गोपियो के पति है, सूर के भी प्रभु है। पर गीति में वर्णित भावनाएँ सूर की अपनी स्वानुभूत भावनाओ के रूप में नही है। सगुणोपासक भक्त कवियो के गीतो में जहाँ भी कृष्ण तथा राम की जीवन-लीला का वर्णन है, वहाँ पर न सूर और उनके साथियो में और न तुलसी ही में शुद्ध गीति-भावना पाई जाती है। हाँ इनके विनय-गीतो में गीति-भावना सहज रूप में विद्यमान है और इस कथन की पुष्टि के लिए हम सूर के विनय-पदो और तुलसी की विनयपत्रिका के गीतो को देख सकते है। विनय-गीति की उत्कृष्ट भावना हमें इनमें खेलती हुई मिलती है।

हिन्दी की भक्ति-धारा के अन्तर्गत शुद्ध गीति-भावना हमें कवीर, दादू आदि निर्गुण उपासको में, मीरा के काव्य तथा तुलसी की विनय-पत्रिका में देखने को मिलती है। निर्गुणियो की तो स्वानुभूति, उनकी साधना का तत्व और केन्द्र-विन्दु है, और उन्होन उसे अपने ही रूप में विना किसी रूपक का सहारा लिये व्यक्त किया है। अतः निर्मल गीति-प्रवाह निर्गुणधारा के काव्य में बहा है। कवीर कहते है —

"मै अपने साहव सग चली।
हाथ में नरियल मुख में बीड़ा, मोतियन मांग भरी।
लिल्ली घोड़ी जरद बछेड़ी तापै चढ़ि कै चली।।
नदो किनारे सतगुरु भेंटे, तुरत जनम सुधरी।
कहै कवीर सुनो भाई साधौ, दोउ कुल तारि चली।।"

इस पद में जो कुछ भी वर्णन है, कवीर ने स्वानुभूत रूप में किया है, किसी अन्य प्रसग को न लेकर अपने आपको उस अवस्था में डाल कर कवीर ने आत्मिक अनुभूति को व्यक्त किया है। गेय है ही अतः 'गीति'-भावना का शुद्ध रूप है। निर्गुण सम्प्रदाय के अन्य कवियो—दादू, नानक, धना, पीपा, बुल्ला, दरिया, मलूक आदि में भी हमें इसी प्रकार के उद्गार देखने को मिलते है, पर इनमें काव्य-सौन्दर्य और अनुभूति की वह स्वाभाविक तीव्रता नही मिलती जो हमें मीरा के पदो में प्राप्त होती है। मीरा को भक्तिकालीन गीतिकारो में बडा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनकी गीतियाँ, उनकी अनुभूतियो के स्वाभाविक उद्गार है, और वे उद्गार इतने तीखे और सरस है कि सुननेवाले को अपने प्रभाव में बहा ले जाते है। चाहे

प्रेम-भावना हो, चाहे विरह, दोनो के ही वर्णन में जिस सत्यानुभूति के दर्शन हमें मीरा में होते है, वे अन्यत्र दुर्लभ है। मीरा का एक पद देखिये —

"आली री मेरे नैणा बान पडी।
चित्त चढी मोरे माधुरी मूरति उर बिच आनि अड़ी।
कब की ठाढ़ी पथ निहारू अपने भवन खडी॥
कैसे प्राण पिया बिन राखू जीवनमूरि जडी।
'मीरा' गिरिधर हाथ बिकानी लोग कहै बिगड़ी॥"

मीरा की कृष्ण-सम्बन्धी विरहानुभूति बडी तीव्र है। भक्त की स्वाभाविक भक्ति के साथ-साथ 'गीति' का निर्मल धवल स्रोत मीरा के पदो में बहता हुआ मिलता है। तुलसी की विनय-पत्रिका में सेवक-सेव्य भाव का प्रकाशन है, पर मीरा की भक्ति, माधुर्यभाव की है, यही अन्तर है। इस रूप में मीरा का दरजा तुलसी के ही समान है। सगुणोपासक कवियो में तुलसी की विनय-पत्रिका, शुद्ध गीति-भावना का उत्कृष्ट नमूना है। भाव की तीव्रता, सत्यता और सघनता तुलसी और मीरा में एक है, पर आलवन के भाव में अन्तर है। मीरा का एक पद देखिये —

"नैनन बनज बसाउँ री जो मै साहब पाऊँ।
इन नैनन मेरा साहब बसता, डरती पलक न लाऊँ री।
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ री॥
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, बार बार बलि जाऊँ री॥"

इस पद से प्रकट है कि मीरा में कृष्ण-भक्त सगुणोपासको का और निर्गुण-साधना का पूरा प्रभाव था। निर्गुणियो की आध्यात्मिक ऊँचाई, और कृष्ण-भक्ति की सरस माधुरी, दोनो का ही सुखद सम्मिश्रण मीरा में हुआ है।

तुलसी की गीति-भावना में दास्यभाव की उपासना है, पर यदि प्राचीन-काल में अकेला कोई हिन्दी ग्रन्थ शुद्ध गीतिभावना को लेकर लिखा गया, कहा जा सकता है, तो यह 'विनय-पत्रिका' है। आत्म-समर्पण की कितनी सहज भावना नीचे लिखी पक्तियो में व्यक्त हुई है—

"जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतितपावन जग केहि अति दीन पियारे।"

'गीति' के भक्ति-सम्बन्धी ऊपर कहे गये रूपो को छोड़कर अन्य लौकिक भावनाओ के अन्तर्गत, हिन्दी के पूर्वकालीन काव्य में, गीति-भावना का प्रवेश

नही हुआ । यत्र-तत्र रीतिकालीन काव्य में (जैसे रसखान, घनानन्द, वोधा, आलम, ठाकुर आदि की कविता में) हमें स्वानुभूति के दर्शन लौकिक प्रेम के आश्रय में मिलते है, पर उनमे भी छाया कृष्णभक्ति की है । साथ-ही-साथ ऐसे उद्गार गीतो के रूप में कम प्रवाहित हुए है किन्तु इन्हें हम 'प्रगीत मुक्तको' की कोटि में रख सकते है, क्योकि कोमल भाव का घनीभूत प्रकाशन, स्वानुभूति और सगीतात्मक मधुर शब्दावली हमें देखने को मिलती है । रसखान, घनानद, ठाकुर, वोधा के काव्य में अधिकाश प्रगीतात्मकता है । घनानद का नीचे लिखा छन्द इसका सुन्दर उदाहरण है—

> "सूने परे दृग भौन सुजान जे ते बहुरे कब आय बसाय हौ ।
> सोचन ही मुरझ्यो पिय जो हिय सौ सुख सोच उदेग नसाय हौ ।।
> हाय दई घनआनँद ह्वै करि कौ लौ वियोग के ताप तपाय हौ ।
> ए हो हँसी जिन जानो हहा हमें खाय कहौ अब काहि नसाय हौ ।।"

इसमें प्रेम-प्रगीत का सुन्दर रूप है । इन स्वच्छन्द कवियो और भक्तो के उदगारो को छोड कर गीतिभावना के विविध रूप हमें पूर्वकालीन हिन्दी-काव्य में नही मिलते । इसके कारण है । प्रथम कारण तो यह है कि पूर्वकालीन काव्य में कवि अपनी लौकिक भावनाओ और कार्यो के विषय में मौन रहता था । कोई भी कवि हमे ऐसा नही मिलता जिसने अपना पूरा परिचय कही भी दिया हो । अपने विषय में अधिक कहना भारतीय कवि-पद्धति के अनुसार शालीनता के विरुद्ध बात समझी जाती थी । अत ऐसी दशा में कवि अपनी लौकिक भावनाओ और अनुभूतियो को अपना कह कर कैसे गा सकता था ? अत गीति-भावना की मूल स्वच्छन्दता उस समय न थी । कवि एक निराक्षक और द्रष्टा के रूप मे वर्णन करता था । इस बात का एक सुपरिणाम यह हुआ कि कुछ प्रबन्ध-काव्य हमें मिल जाते है । इसके विरुद्ध आधुनिक युग में गीति-भावना को पूरी स्वच्छन्दता मिलने पर प्रबन्ध-काव्यो और वस्तु-वर्णन को बडा धक्का सा लगा है; पर गीतिकाव्य खूब उमड़ा है ।

आधुनिक युग मे गीति-भावना के प्रबल प्रवाह के प्रमुख कारण है— परम्परा-त्याग और स्वच्छन्दता, अग्रेजी गीति-काव्य का सम्पर्क, प्रकृति-प्रेम, अभाव या असन्तोष की भावना आदि । भारतेन्दु युग में काव्य के विषयो मे बहुत बडा परिवर्तन हुआ । गीतिकाव्य को वल देनेवाली भक्ति और प्रेम-भावनाएँ जहाँ पर थी वैसी ही रही, वही देश-प्रेम की नवीन भावना जाग्रत हुई जिनके अन्तर्गत आगे चलकर अनेक नाटक, प्रवन्ध-काव्य, उपन्यास आदि लिखे गये । साथ-ही-साथ इसने गीति-भावना को भी प्रेरित किया । देश-प्रेम को

लेकर लिखी गई बहुसख्यक रचनाएँ भारतेन्दु-युग में विद्यमान है, जिनमें शुद्ध गाति-भावना हिलोरें लेती है। प्राचीन गौरव और आधुनिक दुर्दशा के चित्र, विवशता का सचार करते है और निरवलबता की दशा में कवि देशोद्धार के लिए ईश्वर से प्रार्थना भी करते है। यह विवशता और निराशा की भावना देशगत होते हुए भी कवि की व्यक्तिगत भावना के रूप में प्रकट हुई है। भारतेन्दु जी की निराशा नीचे लिखे छन्द मे व्यक्त हुई है—

"कहाँ परीक्षित कहँ जनमेजय कहँ विक्रम कहँ भोज।
नन्द वश कहँ चन्द्रगुप्त कहँ हाय! कहाँ वह ओज।
काल विवश जो गए नृपति वे तो क्यो उनके बालक
भए न उनके सम काको अशा उपजे कुलघालक।
हा! कबहूँ वह दिन फिर ऐहै वह समृद्धि वह सोभा।
कै अब तरसि तरसि मसूसि कै दिन जैहै सत्र छोभा॥"

'भारत-दुर्दशा' का नीचे लिखा वर्णन कितना हृदयद्रावक है:—

"जहँ शवय भए हरिचंदर नहुष ययाती, जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव शर्याती।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती, तहँ रही मूढता कलह अविद्या राती।
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई, हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई॥"

केवल भारतेन्दु ही की नही यह भावना भारतेन्दु के समकालीन अनेक कवियो की थी। प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्तव्यास, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरन गोस्वामी, श्रीधर पाठक आदि ने देश प्रेम की भावना को व्यक्तिगत बना कर अपने गीत लिखे है। राधाचरण गोस्वामी इस दरिद्र भारत के उद्धार की ईश्वर से प्राथना करते हुए कहते है—

"प्रभु हो पुनि भूतल अवतरिए।
अपने या प्यारे भारत के पुनि दुख दारिद हरिए।
महा अविद्या राक्षस ने या देसहि बहुत सतायो।
साहस पुरुषारथ उद्यम धन सबही विधिन गँवायो।
जो कोऊ हित की बात कहत तौ कोपै सबही भारी।
धरम्म-बहिरमुख मूरख नास्तिक कहि-कहि देवें गारी॥"

इन्हें हम 'जागरण-गीत' कह सकते है। इनमें ईश्वर को जगाने के बाद देश को जगाने का भाव आया और फिर नौजवान, किसान मजदूर, आदि को जगाने का भाव इसी देश-प्रेम को लेकर चलनेवाली धारा के भीतर उमडा

है जो अधिकाश प्रगतिशील काव्य के अन्तर्गत रखा जाता है। 'दिनकर' की हिमालय के प्रति कविता भी इसी भावना से ओत-प्रोत है, पर प्रगीतात्मकता का भाव इसमें पूर्वकालीन कवियो की अपेक्षा अधिक गम्भीरता, कला एव सौन्दर्य के साथ व्यक्त हुआ है। कुछ पक्तियाँ इसे सिद्ध करेंगी—

"मेरे नगपति! मेरे विशाल!

साकार, दिव्य, गौरव विराट! तू पूछ अवध से, राम कहाँ?
पौरुष के पुजीभूत ज्वाल! वृन्दा! बोलो, घनश्याम कहाँ?
मेरी जननी के हिम किरीट! ओ मगध! कहाँ मेरे अशोक
मेरे भारत के दिव्य भाल! वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ?

यहाँ तक तो पूर्ववर्ती भावना का ही मेल है, पर आगे की पक्तियो में इस भावना की सघन तीव्रता, पूजीभूत साहस और आकुल क्रियाशीलता को सँजोकर कवि कहता है—

ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा तू मौन त्याग, कर सिंहनाद
कर निज विराट स्वर में निनाद. रे तपी! आज तप का न काल,
तू शैलराट्! हुकार भरे नवयुग-शंखध्वनि जगा रही
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद! तू जाग जाग मेरे विशाल!

मेरी जननी के हिम किरीट!
मेरे भारत के दिव्य भाल!
नव-युग शखध्वनि जगा रही
जागो नगपति! जागो विशाल!"

'जागरण' की भावना के अन्तर्गत प्रगीतात्मकता नरेन्द्र की 'प्रभातफेरी' कविता में भी इसी प्रकार अन्तर्निहित है। 'बन्दी' को भारतीय मानव का प्रतीक मानकर कवि उसे मुक्त करने का भार अपने ऊपर लेता हुआ कहता है—

"आओ, हथकड़ियाँ तडका दूँ, जागो रे नतशिर बन्दी।
उन निर्जीव शून्य श्वासो में, आज फूँक दूँ लो नव जीवन
भर दूँ उनमें तूफानो का अगणित भूचालो का कंपन
प्रलय वाहिनी हो, स्वतंत्र हों तेरी साँसें बन्दी।
जागो, पहचानो अपने को मानव हो समझो निज गौरव
अन्तस्तल की आँखें खोलो देखो निज अतुलित बल वैभव,
अहकार औ, स्वाधिकार, दो पृथक् पृथक् पथ है बन्दी।"

इन जागरण-गीतो में प्राय कवि का 'आवेश' व्यक्त हुआ है। वह व्यग्र है और शीघ्र ही ऐसा परिवर्तन, ऐसी क्राति चाहता है जिससे समस्त परवशता और दासता दूर हो जाय और मानव स्वच्छन्द हो अपने अधिकार प्राप्त कर सके। इसी क्राति को जगाता हुआ 'अचल' का कवि गा उठता है—

"भूखे ये भूचाल युगो के, भूखे ये तूफान भयकर।
भूखी सर्वनाश की ये तस्वीरें जो अकुलाती घर घर।
एक तुम्हारी आहट पाते ही ओ आग-भरी लासानी।
धू-धू बुझते दीप भभक घर-घर में फूँकेंगे कुरबानी।
जागो अब तो धधक उठे लू से ये खेत लुटी हरियाली।
कब से ये मजलूम बुलाते ओ जलते अगारों वाली।
पाक करो यह सृष्टि दानवो से जिनने यह अनय मचाया।
कब से सुप्त पड़ी खेतो में जागो इंकिलाब घिर आया।"

इस क्राति की जागरण-प्रेरणा को फूँकनेवाला कवि स्वय है। भाव का कवि से सीधा सम्बन्ध है, कथा या प्रसग की आड नही है अतः गीत-भावना की धारा प्रधान है। इस प्रकार की भावना को लेकर आधुनिक काल में अनेक गीतियाँ लिखी गई है। प्रमुख कवि श्रीधर पाठक, मैथिली-शरण गुप्त, निराला, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, द्विवेदी, नरेन्द्र, दिनकर, अंचल, सुमन आदि है। गुप्त, प्रसाद और पन्त में यह भावना आवेश को लेकर चलनेवाली नही, वरन् सास्कृतिक रूप ग्रहण करती है।

अंग्रेजी के कवियो में विशेष रूप से वड्सवर्थ, कीट्स, शेली आदि की रचनाओ के प्रभाव से आधुनिककालीन गीति-भावना को बडा बल मिला। विशेषकर छायावादी कवियो का पथ तो इन्ही के प्रकाश में प्रशस्त हुआ, पर हम यह नही कह सकते कि छायावादी काव्य अपने सम्पूर्ण रूप और विकास में इनसे भिन्न नही है। इस काव्य की अपनी विशेषता है। जिसकी शैली और स्वच्छदता की प्रेरणा अंग्रेजी काव्य से मिली है, पर भाव एवं सस्कृति की धारा अधिकांश अपनी है। इस प्रभाव के फलस्वरूप मानव एवं प्रकृति-प्रेम से सम्बन्धित गीतियो का विकास देखने को मिलता है।

प्रेम-गीति के अन्तर्गत मानव, नारी एव देश के प्रति प्रेम की भावना प्रकट हुई है। मानव प्रेम का रूप आगे चलकर दलितो एव पीड़ितो के प्रति सहानुभूति का रूप धारण करता हुआ दिखलाई देता है। कृषको, मजदूरो,

भिखारियो के प्रति लिखे गये काव्य इसी के अन्तर्गत रखे जा सकते है। इस प्रकार की गीतियाँ निराला के 'भिक्षुक', 'विधवा', नवीन के 'जूठे पत्ते' आदि है। इस प्रकार की कविताओ में व्यक्तिगत भावना तो है, पर गेयत्व की मात्रा अधिक नही। साथ ही साथ मानव-प्रेम के रूप में अधिक न होकर सहानुभूति के रूप में ही रचनाएँ विशेष है। अत इन्हें करुण-गीत कहा जाय तो विशेष सगत होगा।

देश-प्रेम का रूप ऊपर दिया जा चुका है। नारी-प्रम स्वच्छंदतावाद की विशेष देन है। नारी के सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण पूर्वकालीन काव्य में हुआ है अवश्य, पर, उसमें प्रगीतात्मकता नही आ पाई। प्रगीतात्मकता आधुनिक युग की विशेपता है और नारी-प्रेम का स्वच्छद प्रगीतात्मक चित्रण अधिकाश अग्रेजी साहित्य के प्रभाव के कारण ही हुआ है। प्रेमगीति के अन्तर्गत, प्रेम को सम्बन्धित करके भी लिखा गया है। साथ ही साथ नारी-पुरुष की पारस्परिक प्रेम-भावना का भी सुन्दर एव मधुमय वर्णन हुआ है। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से आनेवाले कवि—प्रसाद, पत, निराला, महादेवी, भगवतीचरण वर्मा, नपाली, अचल, नरेन्द्र, दिनकर, बच्चन आदि है। इस भावना को लेकर तो अधिकाश, आधुनिक युग का गीति-काव्य निर्मित हुआ है। अत ऐसे गीतिकार मिलना कठिन है जिन्होने इसे बिल्कुल ही न ग्रहण किया हो। पर प्रमुख रूप से प्रतिनिधि कवि उपर्युक्त ही है।

'नारी-रूप' से अपना अगाध प्रेम स्पष्ट करते हुए पन्त ने लिखा है:—

> "स्नेहमयि सुन्दरतामयि !
> तुम्हारे रोम-रोम से नारि, मुझे है स्नेह अपार।
> तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि, मुझे है स्वर्गागार।
> तुम्ही इच्छाओं का अवसान, तुम्हीं स्वर्गिक आभास।
> तुम्हारी सेवा में अनजान, हृदय है मेरा अन्तर्धान॥
> देवि ! माँ ! सहचरिपल्लव ! प्राण !!"

नारी का पावन व्यक्तित्व, अपूर्व आकर्पण एव प्रेरणा से पूर्ण है—पल्लव जिसका विश्लेषण पत ने निम्नलिखित पक्तियो में किया है। गीति की ये पक्तियाँ विषय और व्यक्ति दोनो पर प्रकाश डालनेवाली है —

> "तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगा-स्नान।
> तुम्हारी वाणी में कल्याणि, त्रिवेणी की लहरो का गान।"

नारी के सौन्दर्य, स्वभाव, कोमलता, करुणा, शाति, सहनशीलता आदि

गुणों की ओर सकेत करते हुए प्रेम की अभिव्यक्ति आधुनिक कवियो में हुई है पर विशेष रूप से सौन्दर्य ने ही उन्हें आकृष्ट किया है ।

प्रेम-सम्बन्धी समस्त भावनाओ को प्रकाशन देने के लिए आधुनिक कवियो ने प्रकृति को माध्यम बनाया है । स्थूल-सौन्दर्य-चित्रण एव सामान्य भावनाओ को छोड, सूक्ष्मता की ओर जाने के प्रयास में कवि ने प्रकृति को सजीव एव भाव-सम्पन्न रूप में चित्रित किया है । अत प्रकृति-प्रेम का प्रकाशन, प्रेम के प्रतीक-रूप में और स्वतत्र आलवन-रूप में, दोनो प्रकार से किया गया है । प्रकृति-चित्रण में गीतिभावना का समावेश अधिकाश कवियो में देखने को मिलता है, पर प्रमुख रूप से प्रकृति से आत्मा-भाव जोडनेवाले कवि है—प्रसाद, महादेवी, पन्त, नरेन्द्र, और नेपाली । साधारणतया प्रकृति के रूप पर तन्मय होनेवाले कवि, पन्त और नेपाली है, इन्होने अपनी भावना को प्रकृति-समर्पित-सा कर दिया है, उसके सौन्दर्य पर रीझकर ये आत्म-विभोर हो जाते है । पन्त को प्रकृति, स्नेहमयी लगती है, और उसके रूप में वे घुल-मिल जाना चहते है । इतना ही नही वे उससे प्रेरणा भी ग्रहण करते है । प्रकृति का रूप इतना लुभावना है कि वह वासना और सस्कार बन कर भीतर प्रवेश कर चुका है और नारी-रूप के लिए भी वे प्रकृति को छोडने के लिए तैयार नही है ।

> "छोड़ द्रुमो की मृदु छाया
> तोड़ प्रकृति से भी माया
> बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?
> तज कर तरल तरंगो को
> इन्द्रधनुष के रगों को,
> तेरे भ्रूभंगो से कैसे विधवा दूँ निज मृग सा मन ?"

नेपाली का प्रकृति के प्रति आकर्षण, पन्त की भाँति पवित्र नही, वरन् मादक है । वे उसके भीतर व्याप्त सजीवता के दर्शन कण-कण में करते है । 'भोर' का वर्णन करते हुए वे कहते है—

> "हँसा कर डाल-डाल में फूल,
> फूल में हँसते हो सुकुमार ।
> उड़ाकर काले काले भृंग,
> बसाते फूलो का ससार ।
> भृंग का रूप तुम्हारी सूझ,
> फूल के रंग तुम्हारे खेल ।

खिला कर फूल उड़ाकर धूल,
मिलाते तुम जीवन का मेल ।
झुरमुटो में छिपकर चुपचाप, हिलाते तुम प्राणो के पात ।
मार कर तुम किरणो के बान, खिलाते नयनों के जलजात ।।"

'नेपाली' का व्यक्तित्व प्रायः अपने 'विषय' से मिल कर एक हो जाता है और वर्ण्य और कवि में कोई अन्तर नही दीखता ।

प्रसाद, निराला और महादेवी का प्रकृति-प्रेम दार्शनिक और परम्परागत आधार लिये जान पडता है और प्रकृति के माध्यम से ये एक अलौकिक व्यक्तित्व के दर्शन करते है । प्रकृति के भीतर जो भी स्पदन, क्रिया-कलाप, व्यापार है, वे सभी इनके लिए कुछ न कुछ सकेत और व्यग्य-भरे है । निराला का प्रकृति-चित्रण परम्परागत उद्दीपन के रूप में विशेष है जहाँ प्रकृति सुखद एव दु खद मानव-भावनाओ को, सजग, सचेत अथवा प्रज्ज्वलित करती है । 'गीतिका' के एक पद में यह बात स्पष्ट है—

"वह चली अब अलि, शिशिर समीर ।
काँपी भीरु मृणाल-वृन्त पर,
नील-कमल-कलिकाएँ थर-थर ।
प्रात-अरुण को करुण अश्रु भर,
लख तो अहा ! अधीर !
बन-देवी के हृदय-हार से,
हीरक झरते हर-सिंगार के ।
बेध गया उर किरण-तार के,
बिरह-राग का तीर !
बिरह-परी सी खड़ी कामिनी,
व्यर्थ बह गई शिशिर-यामिनी ।
प्रिय के गृह की स्वाभिमान्निी,
नयनो में भर नीर ।।"

निराला के अधिकाश गीतो में गेयत्व और कवित्व अधिक है, पर स्वानुभूति का सीधा प्रकाशन कम है और यह भी भारतीय-परम्परा का प्रभाव ही ह । इनके वर्णन में तीव्रता है, प्रकृतिऋतु-सुलभ प्रभाव और स्वरूप का वडा चटकीला चित्रण और हृदयहारी विशेषण है, पर वह वर्णन शुद्ध आत्मानुभूति रूप में कम है । एक दूसरा गीत देखिये:—

"रूखी री यह डाल, बसन बासन्ती लेगी।
देख खड़ी करती तप अपलक
हीरक-सी समीरमाला जप
शैल-सुता अपर्ण-अशना
पल्लव वसना बनेगी—वसन वासन्ती लेगी॥"

प्रसाद जी प्रकृति के भीतर मानव-भावनाओ का अन्तर्नाद सुननेवाल कवि है। भावनाओ को प्रकाशन देने का माध्यम प्रकृति है; उसी के भीतर से ही, उसी की लीला और व्यापारो में ही, वे आभ्यतर भावनाओ का इगित प्राप्त करते है। 'झरना' और 'लहर' आदि रचनाएँ इसी प्रकार है। प्रकृति के स्वरूप, मनुष्य की अन्तर्वृत्तियो के प्रतीक-रूप में ही प्रसाद जी के चित्रणो में मिलते है। भावनाओ की प्रतीक 'लहर' को सबोधित करते हुए उन्होने लिखा है—

"उठ उठ री लघु लघु लोल लहर।
करुणा की नव अँगड़ाई-सी, मलयानिल की परछाईं सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर!
तू भूल न री पंकज वन में जीवन के इस सूनेपन में,
ओ प्यार पुलक से भरी ढुलक,
आ चूम पुलिन के बिरस अधर!

गीति-भावना प्रसाद जी में पूर्णतया विद्यमान है। पर इनके वर्णन में व्यापकता और उच्चता अधिक है, सघनता और तीव्रता उतनी नही। प्रकृति के साथ सघनता एव तीव्रता की भावना महादेवी वर्मा में सबसे अधिक है। जिस प्रकार भक्तिकालीन गीतिकारो में 'मीरा' का प्रधान स्थान है उसी प्रकार आधुनिक गीतिकारो में महादेवी का। उनके लिए प्रकृति बडी ही सजीव, जागरूक और अनुभूति-सकुल है।

प्रकृति को सचेतन रूप में देखनेवाले कवियो में से प्रमुख पत और महादेवी है। पर महादेवी जी की भावना अधिक तीव्र और मधुर है। गेयत्व भी इनमें अधिक है। इनमें आधुनिक गीतिकाव्य एक कलात्मक पूर्णता को प्राप्त हुआ है। जैसी सुन्दर और मधुर कलागीतियाँ इनकी रचनाओ में मिलती है वैसी अन्यत्र नही। हाँ, मीरा की भाँति ही इनमें भी वहनेवाली धारा एक ही है—प्रिय की विरहानुभूति। यह अनुभूति, प्रकृति के माध्यम से बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति पा सकी है। एक गीति देखिये :—

"पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन,
आज नयन आते क्यों भर भर ?
सकुच सजल खिलती शेफाली,
अलस मौलश्री डाली डाली;
बुनते नव प्रवाल कुंजों में,
रजत श्याम तारों से जाली,
शिथिल मधु पवन, गिन गिन मधुकण
हरसिंगार झरते हैं झर झर !
पिक की मधुमय बंशी बोली
नाच उठी सुन अलिनी भोली,
अरुण सजल पाटल बरसाता
तम पर मृदु पराग की रोली,
तुम विद्युत बन, आओ पाहुन !
मेरी पलकों में पग धर धर !"

इस प्रकार स्वानुभूति और गेयत्व दोनो का मधुर सम्मिश्रण हमें महादेवी वर्मा के काव्य में मिलता है। प्रकृति उन्हें प्रेरणा देती है, वही प्रिय का संकेत करती है और उसी से वे पूछती भी हैः—

"मुसकाता संकेत भरा नभ अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?
मोती बिखरातीं नूपुर के छिप तारक-परियां नर्तन कर,
हिमकण पर आता जाता मलयानिल परिमल से अंजलि भर,
भ्रान्त पथिक से फिर आते
विस्मित पल क्षण मतवाले हैं।
नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय आज हो रही कैसी उलझन !
रोम रोम में होता री सखि ! एक नया उर का सा स्पन्दन!
पुलकों से भर फूल बन गये
जितने प्राणों के छाले हैं।"

इस प्रकार प्रकृति और अपने में एक आन्तरिक आनुभूतिक साम्य की विशेषता महादेवी जी के गीतिकाव्य में मिलती है।

इस प्रकार कलागीति के अन्तर्गत शुद्धगीति और प्रगीत तथा उनके प्रेम-गीति, करुणगीति, जागरणगीति, संबोधगीति आदि भेद-प्रभेद देखे जा सकते हैं।

किन्तु गीतिकाव्य का विवरण पूरा न होगा यदि उसमें ग्रामगीति का उल्लेख न किया जाय। यहाँ ग्रामगीति में भी वही विशेषताएँ आपेक्षित हैं

जो कलागीति में, अर्थात् इनके भीतर भी कवि की तीव्र स्वानुभूति, मधुर कोमलता और सगीतात्मकता विद्यमान रहनी चाहिए । भेद-प्रभेद भी वही माने जा सकते है । हॉ, इतनी बात अवश्य है कि जो सास्कृतिक महत्व ग्राम-गीतियो का है, वह कलागीतियो का नही, साथ ही साथ स्वाभाविकता, तीव्रता, सघनता, और गहरे, पारदर्शी एव हृदयद्रावक सकेतो से जितना ग्राम-गीति-काव्य ओतप्रोत है उतना कला-गीति-काव्य नही । घरेलू विश्वासो एव गहरी अनुभूतियो का सहज प्रकाशन ग्रामगीति की अपनी विभूति है । एक उदाहरण देखिये, बेटी की बिदा का प्रसग है । ससुराल जाते समय अपने मायके के लोगो के भावो का सकेत वह किस मार्मिक ढग से करती है, यह देखते ही बनता है.—

"सावन सेंदुरा माँग भरी बीरन, चुनरी रँगायो अनमोल ।
माया ने दीनों नौ मन सोनवाँ, कि ददुली ने लहर पटोर ।
भैय्या ने दीनो चढ़न को घोड़िला, भौजी मोतिन को हार ॥ सावन०
माया के रोये ते नदिया बहति है ददुली के रोये सागर पार ।
भैय्या के रोये ते पटुका भीजत है, भौजी के दुइ-दुइ आँस ॥
सावन सेंदुरा माँग भरी बीरन, चुनरी रँगायो अनमोल ॥"

पारिवारिक सस्कृति की विशेषता को लेकर चलनेवाली भावधारा इस गीति में जितनी गहरी है, उसके भीतर प्रतिध्वनित व्यग्य भी उतना ही प्रखर । एक नही अनेक लोक-गीतियाँ इसी प्रकार की विशेषताओ को लिये हुए हमारे गीतिकाव्य की समृद्धि और वैभव को बढाती हुई हमारी लोक-सस्कृति की धारा को स्पष्ट करती है ।

हिन्दी गीति-काव्य के बने हुए प्रौढ रूप अभी उपर्युक्त साँचो में ही ढल पाये है । ओजपूर्ण, नवीन जागरण की गीतियाँ भी ऊर्मियो की भाँति स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हिदी काव्य-सरोवर में लहरा रही है, पर अभी उनको निश्चित रूप से ग्रहण करने में कुछ विलम्ब है । हिंदी गीति-काव्य का भविष्य उज्ज्वल है । जिस प्रकार अभी तक उसकी तीव्रता बढती रही है, आशा है उसी गति से आगे वह विविधता और सघनता भी धारण करेगा, पर यह अवश्य है कि गीति की स्वानुभूति के लिए अनुभूति की साधना विशेष अधिक मात्रा में अपेक्षित है । यदि यह अनुभूति व्यक्तिगत होती हुई भी अधिक व्यापक और सामाजिक हो सके, तो गीति-काव्य का सामाजिक उत्थान में महत्वपूर्ण योग हो सकता है ।

कवि-कोटियाँ

भारतीय काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत, काव्यात्मा, कवित्व या काव्य-रमणीयता-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धातो की खोज और उनका विस्तृत प्रतिपादन हुआ है, साथ ही काव्य के विविध रूपो पर भी विचार किया गया है, किन्तु कवि-कोटियो पर अधिक साहित्य उपलब्ध नही। इस सबध में निश्चित और तथ्यपूर्ण विवरण देनेवाले प्रमुखतया दो ही ग्रथ है। प्रथम—राजशेखर कृत काव्यमीमासा और द्वितीय क्षेमेन्द्रकृत कठाभरण। अन्य अनेक कविशिक्षा से युक्त अथवा सैद्धान्तिक विवेचन की महत्ता रखनेवाले काव्यशास्त्रीय ग्रथो, जैसे नाट्यशास्त्र, काव्यालकार, काव्यादर्श, वक्रोक्ति जीवितम्, ध्वन्यालोक, अलकार शेषर, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगगाधर आदि में इस विशेष विषय पर कोई महत्वपूर्ण उल्लेख नही। हिन्दी में लिखे गये काव्यशास्त्रीय ग्रथो में भी कवि-कोटियो पर कोई महत्वपूर्ण सामग्री नही। महत्वपूर्ण ग्रंथो में भी कवि-कोटियो अर्थात् कवियो के प्रकारो, वर्गो, भेदो या जातियो पर कोई उल्लेख न होने का एक कारण मेरी समझ में विषय की विवादग्रस्तता है। एक व्यक्ति यदि एक आधार पर वर्गीकरण करता है तो वह उस आधार की कम या अधिक महत्ता-सम्बन्धी व्यक्तिगत दृष्टि के कारण किसी को उत्तम या अधम कवि कह सकता है, जब कि दूसरा विपरीत आधार पर कोटि-निर्धारण करनेवाला व्यक्ति अपना निर्णय सर्वथा भिन्न दे सकता है। इसका एक और भी कारण हो सकता है। कवि-कोटियो के निश्चित हो जाने पर फिर सामान्य जन भी कवियो को उनमें से किसी कोटि में रख सकते है और इस प्रकार साधारण कवियो के प्रति अधिक सम्मान का अभाव भी जाग्रत हो सकता है। इसके साथ ही साथ अनेक भावुक या आलोचक जो स्वय इस प्रकार की कोटियाँ निश्चित करते या मानते है, यदि कवित्वशक्ति की उत्कृष्टता से सपन्न न हुए, तो अपनी ही कसौटी पर कसे जाकर भी सम्मान के भाजन नही हो सकते। अत इस प्रकार अधिक व्यापकता के साथ इस प्रकार के मापदड को सर्वजन सुलभ करना उपयुक्त न समझा गया।

एक अन्य अधिक प्रकृत कारण हो सकता है कि यह विषय उस समय उतना अधिक महत्व का न समझा गया जिससे इस पर कुछ अधिक विचार किया जाय। किन्तु, कुछ भी हो, पक्षपातहीन एव निष्पक्ष दृष्टि से कवि-कोटियो का निर्धारण काव्य और कवियो—दोनो की उत्कृष्टतावृद्धि में सहायक अवश्य हो सकता है। इसी विश्वास को लेकर इस विषय पर कुछ सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयास इन पक्तियो में किया गया है।

राजशेखर ने अनेक प्रसगो में कवि-कोटियो का निर्देश किया है।

कवि का उपकार करनेवाली कारयित्री या रचनात्मक प्रतिभा तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। इसी के आधार पर तीन प्रकार के कवि भी होते है—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक। सारस्वत—सहजा प्रतिभा के द्वारा पूर्वजन्म के संस्कारवश जिसकी कवित्व-शक्ति प्रवृत्त होती है वह सारस्वत कवि है। आहार्या बुद्धि के द्वारा इस जन्म के अभ्यास से जिसकी कवित्व शक्ति जाग्रत होती है वह आभ्यासिक और जिसकी काव्यरचना उपदेश के सहारे ही होती है अपनी बुद्धि से नही वह औपदेशिक है।* काव्य सेवन के आधार पर भावक या समालोचक के चार भेद माने गये है—आरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्वाभिनिवेशी।† ये भेद वास्तव में आलोचक के ही मानने चाहिए, किन्तु कुछ लोगो ने कवि के भी ये भेद माने है। इनमें—आरोचकी वह है जिसे अन्यो का काव्य अच्छा नही लगता है, सतृणाभ्यवहारी वह है जो सब कुछ पढता है, जो कुछ भी कविता (छन्दबद्ध) कही जानेवाली रचना है, सभी का सेवन करता है; मत्सरी-ईर्ष्यावश दूसरो के उत्तम काव्य को भी न पढता है और न सुनकर प्रशसा करता है, केवल दोषो को देखता है तथा तत्वाभिनिवेशी वह है जो कि तत्व में प्रवेश करके उसे पहचान लेता है और ग्रहण कर लेता है। सूक्ष्मतया यदि हम विचार करें, तो ये वास्तव में आलोचक के ही भेद हो सकते है, कवि की प्रतिभा से इनका अधिक सम्बन्ध नही। कवि में भी ये उस भावयित्री प्रतिभा से सम्बन्ध रखते है, रचनात्मक या कारयित्री प्रतिभा से नही। केवल प्रतिभा के आधार पर किये गये वर्गीकरण में उत्तरोत्तर एक दूसरे से निम्नश्रेणी के वर्ग आये है और इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सारस्वत उत्तम कवि है, आभ्यासिक मध्यम

*काव्यमीमांसा, चतुर्थ अध्याय, पृ० १३।

†काव्यमीमांसा, चतुर्थ अध्याय, पृ० १४।

कवि है और औपदेशिक अधम कवि है। इसके पश्चात् दूसरा आधार प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों का है इसमें से एक के आधिक्य और दूसरे की न्यूनता के आधार पर राजशेखर ने तीन भेद किये है—शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभय कवि। श्यामदेव के विचार से एक दूसरे से उत्तरोत्तर वढकर है। राजशेखर के विचार से प्रत्येक अपने-अपने विषय मे महत्वपूर्ण है, कोई किसी से घटकर या बढकर नही। काव्य कवि मे कवित्व अधिक रहता है, अध्ययन और ज्ञान उतना नही। शास्त्र कवि मे रस या भाव की सपत्ति अधिक नही रहती है, ज्ञान और अध्ययन अधिक रहता है। और उभय कवि मे दोनो का ही महत्व रहता है। इस प्रकार से जव हम कवित्व की उत्तमता पर विचार करते है, तो वास्तव मे सर्वोत्तम उभय ही है और शास्त्रकवि इन सवमे निम्नतम।

राजशेखर की दृष्टि से शास्त्र कवि तीन प्रकार के होते है। प्रथम जो शास्त्र का निर्माण करता है, द्वितीय जो श स्त्र मे काव्य का सन्निवेश करता है और तृतीय जो काव्य मे शास्त्रीय अर्थ या शास्त्र के तत्वो को समाविष्ट करता है। इसमे कौन किससे वढकर या घटकर है इस सम्वन्ध मे कोई भी मत-प्रकाशन नही, किन्तु काव्य के प्रसग मे द्वितीय ही सवसे बढकर समझा जाना चाहिए, क्योकि कविकर्म का सवसे अधिक सम्वन्ध उसी से है।

काव्यकवि के प्रभेद काव्यमीमासा मे आठ कहे गये है—रचनाकवि, शब्द-कवि, अर्थकवि, अलकारकवि, उक्तिकवि, रसकवि, मार्गकवि और शास्त्रार्थ-कवि। ये भेद काव्य की आत्मा तत्व के आधार पर किये गये है। सस्कृत साहित्य मे काव्य की आत्मा खोजते हुए, विभिन्न तत्वो के आधार पर अनेक काव्य-सिद्धान्त प्रचलित हुए है। कुछ लोग अलकार को ही काव्य मे सव कुछ समझते है और उनकी रचना मे अलंकारो की ही प्रधानता होती है, ऐसे कवि को अलकार कवि कहते है। उसकी कृति मे अलकार-चमत्कार ही प्रधान होता है। इसी प्रकार 'वक्रोक्ति' या उक्ति वैचित्र्य को ही काव्य मे सब कुछ माननेवालो का वक्रोक्ति सिद्धान्त था और जिनकी रचना मे उक्ति-चमत्कार ही प्रधान हो उसे उक्ति कवि कहना चाहिए। रस को काव्य का सर्वस्व माननेवाला 'रस सिद्धान्त' रहा। अत॰ जो रस की अभिव्यक्ति काव्य मे प्रधानतया करते है उन्हे रस कवि कहना चाहिए। रीति-सिद्धान्त के अनु-सार रीति, मार्ग या शैली ही काव्य की आत्मा है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार जिस कवि की रचना मे रीति, मार्ग या शैली की विशेषता हो उसे 'मार्ग कवि' कहना चाहिए। ऐसा जान पडता है कि राजशेखर के समय तक

'ध्वनि' और 'औचित्य' के सिद्धान्त प्रचलित नही थे, इसी से उन्होने ध्वनि और औचित्य के आधार पर कवियो के नामकरण नही किये।

शास्त्रार्थ कवि वह है जो अपनी रचना में बडी सरसतापूर्वक शास्त्र के तत्व को निरूपित करता है।

रचनाकवि वह है जिसके काव्य में वाक्य, शब्द या वर्ण के सगुम्फन का चमत्कार हो। अर्थ कवि के काव्य में अर्थ का चमतकार प्रधान रूप से पाया जाता है। शब्द कवि में शब्द का।

शब्द कवि के राजशेखर ने तीन प्रभेद किये है—नामकवि, आख्यात कवि और नामाख्यात कवि।

नामकवि—वे है जिनकी रचना में नाम अर्थात् सज्ञा शब्दो की प्रधानता रहती है। आख्यात कवि की रचना में क्रिया को प्रधानता और चमत्कार रहता है और नामाख्यात में दोनो प्रकार के शब्दो का। यहाँ पर यदि हम ध्यान से देखें; तो शब्द कवि के सभी प्रभेद रचनाकवि के अन्तर्गत आ सकते है और रचना कवि, मार्गकवि का भेद हो सकता है। इस प्रकार से छ भेद ही रह जाते हैं। उनमें यदि ध्वनि और औचित्य प्रधान कवि नामक दो भेदो को और जोड दिया जाय, तब आठ भेद आज भी माने जा सकते है। इस वर्गीकरण का आधार काव्य-सिद्धान्त है। राजशेखर के मत से उपर्युक्त कवियो के दो-तीन गुण जिन कवियो की रचना में पाये जाते है, वे साधारण, जिनमें पाँच-छ गुण पाये जाते हो, वे मध्यम और जिनकी रचना उपर्युक्त सर्व गुणसम्पन्न हो उसे महाकवि कहना चाहिए।

पूर्वोक्त प्रतिभा के आधार पर किये गये सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक कवियों में दश अवस्थाएँ राजशेखर ने मानी है—उनमें प्रथम दो में सात और औपदेशिक में तीन अवस्थाएँ है। दशो अवस्थाएँ ये है—

१ काव्य विद्या स्नातक वह है जो काव्य करने की इच्छा से काव्य और उपविद्याओ को ग्रहण करने के लिए गुरुकुल में रहता है।

२. हृदय कवि—वह है जो हृदय में ही कविता करता है उसे प्रकट नही करता।

३. अन्यापदेशी—कवि वह है जो दोष-भय के कारण अपनी रचना को दूसरे को कहकर व्यक्त करता है।

४ सेविता—कवि वह है जो काव्य का अभ्यास हो जाने पर किसी प्राचीन उत्तम कवि की छाया के रूप में कविता करता है।

५ घटमान—जो निर्दोष भावपूर्ण किन्तु प्रबन्धहीन फुटकल रचनाएँ करता है, वह घटमान है।

६ महाकवि—जो किसी भी प्रकार की प्रबन्ध-रचना कर सकता है वह महाकवि कहलाता है।

७ कविराज—जो अनेक भाषाओ में अनेक रसो में स्वच्छन्दतापूर्वक विविध प्रबन्धो की रचना कर सकता है, वह कविराज है। संसार में ऐसे कवि विरले होते हैं।

८. आवेशिक—कवि वह है जो मन्त्रादि के बल से काव्य करने की सिद्धि पाकर उन्ही के आवेश में ही कविता कर सकता है।

९ अविच्छेदी—जो जब इच्छा हो तभी किसी प्रतिबध के बिना ही कविता कर सके, वह अविच्छेदी है।

१० सक्रामयिता—जो सिद्धमत्र, कुमार कुमारियो को अपने मत्रबल से कवित्व शक्ति का सक्रमण कर सकता है, वह सक्रामयिता* है। अभ्यास द्वारा सुकवि के वाक्य परिपक्व होते हैं।

इसके साथ-साथ कविता करने के काल के आधार पर चार† प्रकार के कवि होते है :—प्रथम असूर्यम्पश्य कवि है जो किसी गुफा के भीतर या घर में निष्ठा-पूर्वक काव्य-रचना करता है। उसके लिए प्रत्येक समय काव्य काल का है। द्वितीय निषण्ण कवि है जो काव्य क्रिया के लिए बैठकर कविता करता है। इसमें उतनी निष्ठा नही होती। इसकी रचना के वे सभी काल हैं जब वह इसमें दत्तचित्त है। तृतीय-दत्तावसर कवि है जो अपना अन्य सेवादि का कार्य करके समय प्राप्त होने पर कविता करता है। इसके लिए ब्राह्म मुहूर्त या सारस्वत मुहूर्त उत्तम काल है। चतुर्थ-प्रायोजनिक कवि वह है जो किसी उद्देश्य को लेकर काव्य करता है। इसके लिए जब कोई प्रयोजन प्रस्तुत होता है, वही उत्तम काल है।

रचना के आधार पर कवि के चार भेद है—उत्पादक, परिवर्तक, आच्छादक एव सवर्गक। उत्पादककवि नवीन उद्भावना कर नवीन रचना करता है। परिवर्तक दूसरे की रचना में कुछ उलटफेर और परिवर्तन करके अपनी कविता बना लेता है। आच्छादक दूसरो की रचना छिपा कर अपनी रचना बना लेता है और सवर्गक प्रगट रूप से खुल्लम खुल्ला दूसरे के काव्य को

---

*काव्यमीमांसा, पृ० २० अध्याय ५।

†काव्यमीमांसा, पृ० ५३ अध्याय १०।

अपना कहकर प्रकाशित कर देता है। इनमें वास्तव में उत्पादक को ही कवि कहना चाहिए ; अन्य तो नकलची, चोर या डाकू हैं कवि नही।

दूसरो की उक्ति हरण करनेवाले कवि चार * प्रकार के है। इनकी अवस्था अयस्कान्त या चुम्बक के समान है। ये है—भ्रामक, चुम्बक, कर्षक और द्रावक।

भ्रामक कवि—पुराणादि की अप्रसिद्ध एव दूसरो के द्वारा दृष्ट वस्तुओ का वर्णन करके दूसरो को अपनी मौलिकता के भ्रम में डालता है।

चुम्बक कवि—जो अपनी मनोहारी उक्तियो के द्वारा दूसरो के अर्थ को हरण करके उनमें कुछ-कुछ अपना रग प्रदान कर देता है।

कर्षक कवि—जो अपने किसी लेख द्वारा दूसरो के वाक्य और अर्थो को खीच कर अपनी रचना में स्थान दे वह कर्षक है।

द्रावक कवि—दूसरो के अर्थ को अपनी रचना में विना जाने ही जो ग्रहण करके नवीनता उपस्थित कर देता है, वह द्रावक कवि है।

काव्य मीमासाकार राजशेखर ने इन चारो को लौकिक कहा है। इसके साथ ही पाँचवाँ अदृष्ट परार्थदर्शी 'चिन्तामणि' नामक अलौकिक कवि का भी वर्णन किया है जिसके सम्बन्ध में उन्होने लिखा है—

चिन्तासम यस्य रसैक सूतिरुदेति चित्राकृतिरर्थसार्थः।
अदृष्टपूर्वो निपुणै पुराणै. कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः॥

जिसमें एक साथ अर्थ, रस, अलकार आदि की विचित्र प्रभा रहती है जैसी पूर्वकालीन निपुण कवियो में भी देखने को नही मिलती, वह चिन्तामणि कवि है।

जिनके भाव नवीन है उनके लौकिक, अलौकिक और मिश्र ये तीन भेद है। अर्थ ग्रहण करनेवाले चार ऊपर कहे हुए कवि-भेदो की आठ-आठ भावापहरण क्रियाएँ ये हैः—

किसी अन्य कवि की उक्ति के पहले और पीछे के क्रम को वदल कर ग्रहण करना व्यस्तक है। किसी विस्तृत उक्ति के किसी खंड को ग्रहण कर लेना, खण्ड कहा गया है। अत. ऐसी कविता करनेवाले कवियो को खण्डक कह सकते है। किसी सक्षिप्त उक्ति को विस्तृत कर ग्रहण करना तैल विन्दु कहलाता है। दूसरी भाषा की उक्ति को अपनी भाषा में ग्रहण करना नट-नेपथ्य

---

* काव्यमीमांसा, अध्याय १२ पृ० ६४,।

है। किसी काव्य के छन्द को बदल कर उसे ग्रहण करना छन्दो विनिमय है। किसी उक्ति के कारण को बदल देना हेतुव्यत्यय है। देखी हुई वस्तु को अपने स्थान से दूसरे स्थान में ले जाना सक्रातक है। वाक्य और अर्थ दोनो का ग्रहण करना सम्पुट है। इस प्रकार ग्रहण करना प्रतिबिम्ब काव्य कहलाता है और इस प्रकार का परोक्तिहरण कवि को अकवि बना देता है। अतः इसका त्याग कर देना चाहिए।*

राजशेखर ने एक दूसरे प्रकार के भावापहरण का भी वर्णन किया है। जो आलेख्य प्रख्य कहलाता है। यह मार्ग अनुचित नही है। इसके प्रकार ये है--

समक्रम---किसी की उक्ति के समान रचना करना।

विभूषण मोष---सालकार उक्ति अलकाररहित बना कर कहना।

व्युत्क्रम---किसी की उक्ति के क्रम को बदल देना।

विशेषोक्ति—पूर्ववर्ती सामान्य रूप को विशेष रूप में कहना।

उतस—गौणभाव से कही उक्ति को प्रधानता देना,

नटनेपथ्य—उसी उक्ति को कुछ बदल कर ग्रहण करना।

एक परिकार्य—पूर्ववर्ती उक्ति के कारणभाग को ग्रहण करना, किन्तु कार्यभाग बदल देना।

प्रत्यापत्ति—विकृत रूप से कहे गये भाग को स्वाभाविक रूप से कहना।

यह हुआ 'आलेख्यप्रख्य' रीति से भावापहरण। तीसरा 'तुल्यदेहि तुल्य' मार्ग है जिसके भेद ये है—

विषय परिवर्तन—किसी विषय में विषयान्तर का समावेश कर उस विषय का दूसरा रूप दे देना।

द्वन्द्वविच्छित्ति—दो प्रकार से वर्णित विषय के एक प्रकार को ग्रहण कर लेना।

रत्नमाला—पूर्ववर्ती काव्य के अर्थो को दूसरे अर्थ में प्रयुक्त करना।

सख्योल्लेख— पूर्वोक्त सख्या को बदल देना।

चूलिका—दो प्रकार की है—सम को विषम करनेवाली विषमवादिनी और विषम को सम करनेवाली सवादिनी रीति।

विधानापहार—विधान को बदल देना, निषेध को विधि रूप में कहना।

माणिक्यपु ज—बहुत से अर्थो को एक स्थान पर सगठित करना।

---

*काव्यमीमांसा, अध्याय ११ पृ० ६८,।

कन्द——कन्द रूप अर्थात् सहित अर्थ को कन्दल (अकुर अर्थात् व्यवहित व्यष्टिगत रूप में व्यक्त करना।

यह मार्ग भी राजशेखर की दृष्टि से ग्राह्य मार्ग है।*

इसके वाद परपुर प्रवेश † नामक भावापहरण की रीति के भेद कहे गये है।

१. हुडयुद्धम्—एक प्रकार से निहित अर्थ को युक्तिपूर्वक बदल कर दूसरे प्रकार का कर देना।

२. प्रतिकचुक—दूसरे प्रसग से एक प्रकार की वस्तु को दूसरे प्रकार से प्रगट करना।

३. वस्तुसचार—एक उपमान को दूसरे उपमान में वदल देना।

४. धातुवाद—शब्दालकार को अर्थालकार में बदल देना।

५. सत्कार—किसी वस्तु के साधारण वर्णन को उत्कृष्ट रूप में वर्णन करना।

६ जीवञ्जीवक—पूर्ववर्ती सादृश्य को असादृश्य रूप में प्रगट करना।

७. भावमुद्रा—प्राचीन वाक्य के अभिप्राय को लेकर प्रवन्ध लिखना।

८. तद्विरोधी—प्राचीन उक्ति की विरोधी उक्ति कहना।

इस प्रकार से भावापहरण करनेवाले कवियो के अनेक रूप काव्यमीमासा में वर्णित है। ये जैसे तव थे वैसे अव भी है।

कवि कठाभरण में क्षेमेन्द्र ने भावापहरण करनेवाले छ प्रकार के कवियो का वर्णन किया है:—

"छायोपजीवी पदकोपजीवी पादोपजीवी सकलोपजीवी।
भवदेय प्राप्त कवित्वजीवी स्वोन्मेषतो वा भुवनोपजीव्यः॥"‡

इनमें से छायोपजीवी——कवि वह है जो दूसरे कवियो के काव्य की छाया मात्र लेकर काव्य करता है। पदकोपजीवी——दूसरे के एकाध पद को लेकर अपनी रचना सजाता है। पादोपजीवी—छन्द का एकाध चरण लेकर अपने छन्द की पूर्ति करता है। सकलोपजीवी—समस्त रचना को ग्रहण कर अपनी कह देता है। प्राप्त कवित्व जीवी—जो कवि-शिक्षा को प्राप्त करके कविता

---

* का० मी०, अध्याय १३, पृ० ७५।

†-कवि कंठाभरण, द्वि० संधि १।

‡ का० मी० अध्याय १३, पृ० ७५।

करता है और अपने उन्मेष, आवेश और प्रतिभा के बल पर जो काव्य करता है, वह भुवनोपजीवी कवि है। इनमें अन्तिम दो वास्तव में कवि है, और प्रथम चार तो पराश्रित है। क्षेमेन्द्र ने इसके बाद कवि-शिक्षा पर अपने ग्रथ में विशेष प्रकाश डाला है, किन्तु कवि-कोटियो पर और अधिक विवरण उपलब्ध नही। अधिक विवरण अन्य ग्रथो में उपलब्ध हो या न हो, किन्तु राजशेखर के काव्यमीमासा में जो अतीव विस्तृत वर्णन हमे मिलता है; वह बडा ही पूर्ण है और लगभग सभी प्रकार के कवियो को समेट लेता है।

वर्णरत्नाकर * में ज्योतिरीश्वर कवि शेखराचार्य ने राजदरबार के वर्णन प्रसंग में कवियो का उल्लेख किया है और कवि, सुकवि, सत्कवि और महाकवि नामो का सकेत है, किन्तु इनके लक्षण नही दिये। भाट वर्णन में भी कवि गुण का उल्लेख मात्र है पर उससे अधिक स्पष्ट नही होता।

केशवदास की कविप्रिया में कवि के तीन भेदो का वर्णन है। उत्तम, मध्यम और अधम। यह वर्गीकरण वर्ण्य विषय के आधार पर है, जैसा कि निम्नाकित दोहे से प्रगट है—

"उत्तम, मध्यम, अधमकवि, उत्तम हरिरस लीन।
मध्यम बरनत मानुषनि, दोषनि अधम अधीन॥"†

इस प्रकार ईश्वर का गुणगान करनेवाले उत्तम कवि, मनुष्यो का गुण वर्णन करनेवाले मध्यम कवि और दोषयुक्त रचना करनेवाले या गुणो को छोडकर दोषों का दिग्दर्शन करनेवाले अधम कवि है। तुलसीदास की उल्लेख-दृष्टि से भी यही वर्गीकरण उचित जान पडता है।

कविजाति और कविभेद पर कुछ सामान्य उल्लेख जगन्नाथप्रसाद भानु के काव्य प्रभाकर में भी हुआ है। 'रस रुच्यनुसार' कवियों की चार जातियाँ उन्होने बताई है, जो हिन्दू समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था का आधार लिये हुए है। इनमें उनके मनोवैज्ञानिक स्तर, रुचि और प्रवृत्ति की ओर सकेत है। 'भानु' जी के अनुसार जिस कवि की रुचि शृगार, हास्य, अद्भुत और शान्त रस पर रहती है वह ब्राह्मण कवि है, जिसकी रुचि रौद्र, वीर पर रहती है वह क्षत्रिय कवि है, जिसकी रुचि करुण रस पर हो वह वैश्य

---

* व० र० पृ० १० (डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी की भूमिका सहित)
† कविप्रिया अध्याय ४, छन्द २।

कवि है और जिसकी रुचि वीभत्स और भयानक रस वर्णन की हो वह शूद्र कवि है।*

इस प्रकार की कविजाति-निश्चय से कोई लाभ नही, क्योकि एक तो सभी रस समान महत्त्व के है, किन्तु इस वर्ण-व्यवस्था से तुलना करने पर एक दूसरे में विषमता का भाव उत्पन्न होता है। वास्तव में रससिद्ध कवि तो सभी रसो के वर्णन में समर्थ होते है। इस वर्गीकरण पर ध्यान देने से तो फिर करुणा, वीभत्स और भयानक रसो पर लेखनी चलानेवाला भी कवि नही मिलेगा। अधम काव्य लिखनेवाले न हो, तो बात ठीक है, पर इन रसो पर लिखनेवाले न रहें यह ठीक नही। अत यह जातिभेद काव्य में समीचीन नही।

इसी प्रकार भानु जी ने समस्यापूर्ति करनेवाले कवियो के भी भेदो का निर्देश किया है। समस्यापूर्ति करनेवाले कवियो की एक अलग कोटि अवश्य होती है, क्योकि उनकी कल्पनाशक्ति एक निश्चित विषय या पद या छन्द-बन्धन का आश्रय लेकर ही कार्य करती है। जब कि स्वच्छन्द कवि अपने भीतर की अनुभूति को व्यक्त करता है। भानु जी ने इन समस्यापूर्ति करनेवाले कवियो के चार प्रकार माने है :—

प्रथम वे है जो अपने इष्टदेव की सहायता से विषय या समस्या का तथ्य समझ कर उस पर लिखते है, द्वितीय वे है जो किसी सामयिक घटना पर ढाल कर छन्द की रचना करते है। तृतीय वे है जो आश्रयदाता की रुचि देख कर, उसे उस समस्यापूर्ति में स्थान देने का प्रयत्न करते है और चतुर्थ वे है, जो समस्यान्तर्गत अर्थ के अनुकूल अपना छन्द ढालते है। इस प्रकार प्रवन्ध कवि, या मनमौजी कवियो के अतिरिक्त ये समस्यापूरक कवि समझना चाहिए।

हिन्दी काव्य को सामने रख कर विभिन्न आधारो पर कवि-कोटियाँ निश्चित की जा सकती है, जिनका विवरण अति विस्तृत हो सकता है। अत विस्तारभय से यहाँ पर उनका सक्षिप्त निर्देशन किया जावेगा। इनमें से अधिकाश राजशेखर की कवि-कोटियो में भी आ सकते है, पर हिन्दी काव्य के प्रसग में उनका अलग ही वर्णन होना अपेक्षित है।

कथासूत्र या वन्ध के आधार पर काव्य-कोटि के अनुसार कवि की दो कोटियाँ हो सकती है—एक प्रवन्ध कवि और दूसरे मुक्तक कवि। मुक्तक

---

* काव्यप्रभाकर, पृ० ६९१।

कवि किसी भी कथासूत्र को नही अपनाता—जब कि प्रवन्ध कवि कथा या चरित्र लेकर ही चलते हैं। प्रवन्ध कवि के दो आधारो पर भेद किये जा सकते हैं। यदि चरित्र या कथानक वहुत विस्तृत और पूर्ण हुआ, और कवि उसमें विभिन्न भावो और रसो का वर्णन करने में समर्थ हुआ, तो उसे महाकवि कहते है और यदि वह कथानक, समस्त वृत्त या चरित्र का एक अश मात्र ही है, तो उसे खण्डक कवि कह सकते है। कथानक में यदि लौकिक या प्राकृत चरित्र का वर्णन है तो उसे प्राकृत कवि और यदि दिव्य या अलौकिक चरित्र का वर्णन है तो उसे अप्राकृत कवि कहेंगे।

छन्दो के आधार पर कवियो के तीन भेद किये जा सकते हैं। छन्द कवि, स्वच्छन्दकवि और गीति कवि। जो अपनी रचना में नियमित छन्दो का ही प्रयोग करते है वे छन्द कवि जो मुक्त या स्वच्छन्द छन्दो का प्रयोग करते हैं, वे स्वछन्द कवि और जो गीतो का प्रयोग करते है, उन्हें गीति कवि कहना चाहिए।

अभिव्यक्ति या प्रकाशन की प्रकृति के आधार पर कवि की दो कोटियाँ है—प्रथम मौन कवि, द्वितीय मुखर कवि। मौन कवि की रचना पाठक को केवल लिपिवद्ध रूप में पढने के लिए ही मिलती है। जव कि मुखर कवि स्वय ही अपनी वाणी से काव्य का आस्वादन श्रोताओ को कराता है। मुखर कवि के दो प्रमुख भेद हैं—एक गोष्ठी कवि और दूसरा सम्मेलनी कवि। गोष्ठी कवि दस-पाँच रसिको की गोष्ठी में ही अपनी रचना सुनाता है। जब कि सम्मेलनी कवि बडे-बडे समारोहो, समाजो और कवि-सम्मेलनो में अपनी रचना सुनाते है। सम्मेलनी कवियो मे अनेक प्रभेद है जिनमें से प्रमुख ये हैः—समस्यापूरक कवि, कठ कवि, अभिनय कवि, आशु कवि, एक छन्दोपजीवी कवि, भाव कवि, और भाषा कवि। समस्या कवि किसी समस्या को लेकर ही अपना चमत्कार दिखा सकता है। कठकवि वह है जो अपने सुरीले और मधुर कंठ से साधारण कविता को ही इस प्रकार पढता है कि सभी पर प्रभाव पड़ता है, किन्तु जब कोई अपने आप एकान्त में उसे पढता है तो कोई विशेष सार नही मिलता। अभिनय कवि कवि-सम्मेलन में पठित कविता के साथ-साथ अपने अग-सचालन आदि से भावो का अभिनय भी करता जाता है। आशुकवि वह है जो किसी विषय या समस्या पर किसी समय तुरन्त कविता बनाता और कहता चला जाता है। यह राजशेखर के आवेशिक या अविच्छेदी कवि के समान ही है। एक छन्दोपजीवी कवि वह है जो किसी एक छन्द को ही प्रत्येक कवि सम्मेलन में सुनाया करता है। भावकवि वह है

जो अपने भाषा-चमत्कार के द्वारा जन-समुदाय को मुग्ध करता है। इन कवियो में ऐसे भी कवि हो सकते है जिनमें एक से अधिक विशेषताएँ विद्यमान हो। जिनमें अधिकाश विशेषताएँ हो उन्हें ही सिद्ध कवि कहना चाहिए। इनमें दूसरे और तीसरे प्रभेद को छोडकर लगभग सभी प्रभेद मौन कवि के भी हो सकते है।

हिन्दी कवियो की कोटियो का निर्धारण एक और आधार पर करना आवश्यक है, वह है काव्यगत प्रवृत्तियो का आधार। इस आधार पर कवियो के अनेक भेद-प्रभेद देखे जा सकते है। जिनमें से प्रमुख भेदो का ही उल्लेख यहाँ किया जायगा जो ये है—भक्त कवि, नीतिकवि, रीति कवि, राष्ट्रकवि, छायावादी कवि, प्रगतिवादी कवि आदि। भक्त-कवि वे है जिनका प्रमुख विषय भक्ति है—इन्हें हम तीन रूपो में देख सकते है—सत कवि, अवतारवादी कवि, रहस्यवादी कवि। सत कवि, निर्गुणोपासक और ज्ञानचर्चा करनेवाले है। अवतारवादी, सगुणोपासक और विविध भावो में भक्ति करनेवाले है। रहस्यवादी कवि वे है जो रहस्यभावना के द्वारा अपने और जगत् के भीतर एक दिव्य रूप और शक्ति का अनुभव करते है। अपने अनुभव के आधार पर जो लोक-व्यवहार की नीति का वर्णन करते है वे ही नीतिकवि है। रीतिकवि वे है जिन्होने लक्षण ग्रन्थो के उदाहरण-रूप अपनी रचना की है—इनके अलकार, रस रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के आधार पर अनेक प्रभेद है। राष्ट्रकवि वे है जो देशप्रेम और राष्ट्रीयता की भावना को लेकर प्रमुखतया कविता करते है। छायावादी कवि नये प्रतीक-उपमान और लक्ष्यार्थो को लेकर अस्पष्ट अवलबन के प्रति कविता लिखनेवाले कवि है। ये हिन्दी की आधुनिक मधुर शैली के प्रयोगवादी कवि माने जा सकते है। प्रगतिवादी कवि काव्य द्वारा लोक की प्रगति का सिद्धान्त लेकर रचना करनेवाले कवि है। इनके दो भेद है—प्रचारवादी और प्रगतिशील। प्रचारवादी कवि वे है जो अपनी रचनाओ द्वारा मार्क्सवाद या साम्यवाद का प्रचार करते है और प्रगतिशील कवि अपनी रचनाओ द्वारा हमारी समस्याओ पर प्रकाश डालते और यथार्थ जीवन का चित्रण कर प्रगति का आदर्श समुपस्थित करते है। इन्हें भी हम दो वर्गो में देख सकते है—एक तो जनकवि है जो सामान्य जनता के जीवन और समस्याओ पर प्रकाश डालते है और दूसरे समाज कवि है जो समाज की प्रगति का उद्देश्य रखकर अपनी कविता करते है। इनके भी अनेक भेद-प्रभेद है जिनका वर्णन विषय को अति विस्तृत कर देगा अतः यहाँ उनकी कोई विशेष आवश्यकता नही।

इस प्रकार ऊपर की पक्तियो में अति सक्षिप्त रूप में भारतीय काव्य में प्राप्त कवि-कोटियो का निर्देश किया गया है। इन सबके उदाहरण भी जुटाये जा सकते है। यदि कवि कोटि निश्चय करने के उपरान्त हम उनकी रचना के उदाहरण भी देने का प्रयत्न करें तो अन्य अनेक भेद-प्रभेद ढूंढे जा सकते है। प्रस्तुत लेख के अंतर्गत हिन्दी काव्य की कवि-कोटियो में इस सम्बन्ध में कुछ नही कहा गया कि कौन घटकर और कौन बढकर है। उसे सस्कृत के वर्गीकरण के आधार पर ही जानना चाहिए वैसे इसका निर्णय सभी कर सकते है। निष्पक्ष विवेचन में तो लक्षण मात्र देने का प्रयत्न करना ही अलम है, क्योकि तुलसी के शब्दो † में कौन बडा और कौन छोटा है, इसका निर्णय देना अपराध है।

---

† को बड़ छोट कहत अपराधू।
गुनि गुन दोष समुझिहिं साधू ॥
रामचरितमानस, बालकांड।

काव्य में वन और फूल*

युग-युग का साहित्य इस बात का साक्षी है कि काव्य को मानव-जीवन से कही अधिक प्रकृति से प्रेरणा मिली है । वेदो के रहस्यमय उषागीतो से लेकर आज तक के साहित्य में प्रकृति के अङ्ग-प्रत्यङ्गो ने कवि को मुग्ध कर उन पर अपना जादू चलाया है जिससे वह अपने अन्तस् में अनुभूति और कल्पना पर पडे इनके प्रतिबिम्बो को सहज उल्लास, दीर्घ नि श्वास एव गहन उच्छ्वास-मय उद्वेगो को गीत और छन्द का रूप दे सका है । प्रकृति के ये रूप न केवल आलम्बन ही बनकर आये है वरन् ये अन्य मानव-भावनाओ की अभि-व्यञ्जना के हेतु प्रतीक और उपमान का रूप भी धारण करते रहे है । इनके माध्यम से जटिलतम, गहन एव सूक्ष्म अनुभूतियो को भी साकार बनाने में कवि सफल हो सका है । प्रकृति के मोह को कवि कभी नही त्याग सका है । आज के कवि की वाणी इस मोह को स्पष्ट करती हुई कहती है —

> "छोड़ द्रुमो की मृदु छाया, तोड प्रकृति से भी माया ।
> बाले तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ।"

रमणी का मधुर रूप और आकर्षक छवि भी कवि को प्रकृति की ओर से विमुख करने में असमर्थ रही है ।

प्रकृति के विविध रूप और अङ्ग है जो हमें गहरी प्रेरणा प्रदान करते आये है और काव्य में वे व्याप्त है । आकाश, मेघ, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य, सन्ध्या, उषा, निशा, वन, उपवन, नदी, सागर, द्रुम, लता, फूल, हस, पिक चातक, मोर आदि असख्य वस्तुएँ हमारे साहित्य और जीवन में समायी है । इनमें वन और फूल का प्रमुख महत्व है और यहाँ हम इन्ही दो प्रतीको पर विशेष रूप से विचार करेंगे ।

वन और फूल दोनो से ही समस्त विश्व ने, और विशेष रूप से भारतीय काव्य ने बडी प्रेरणा पायी है । सस्कृत साहित्य के पूर्ववर्ती महाकाव्य तो वन के दृश्यो से ओतप्रोत है । उनका तो अधिकाश चित्रण वन के ही क्षेत्र में

---

* 'ऑल इडिया रेडियो' लखनऊ के सौजन्य से ।

हुआ है। उन महापुरुषो की रंगस्थली प्रायः वन ही है, इसके कई कारण है, एक तो यही कि उस समय हमारी भूमि में अधिक विस्तृत और हरे-भरे वन थे और जन जीवन उनके सम्पर्क में बराबर आता था, द्वितीय आश्रम-व्यवस्था के कारण वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम तो वन में बीतते थे ही, गुरुकुल और आश्रम भी वनो में होने के कारण शिक्षा की अवस्था ब्रह्मचर्याश्रम भी वनो में ही बीतता था, अतः उनका जीवन प्रकृतिमय था। वन ही उस समय के लीला-क्षेत्र थे, अत आश्रम, तपोवन, यात्राक्षेत्र के रूप में तो वनो का वर्णन है ही, साथ ही प्रकृति के विभिन्न रूपो में और दृश्यो का लीलाक्षेत्र और रगस्थल होने के कारण जीवन की पृष्ठभूमि के रूप में भी हमारा प्राचीन साहित्य वन के वर्णनो से भरा पडा है। यहाँ दो-एक उदाहरण दिये जाते हैः—

आदि कवि वाल्मीकि के रामायण के अरण्यकाड में वनवास प्रसग में वर्णन हैः—

"अवश्यायनिपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला
वनानां दृश्यते भूमिर्निविष्टतरुणातपा।
अवश्यायपरिक्लान्ताः नीहारतमसावृताः।
प्रसुप्ता इव दृश्यन्ते समन्ताद् वनराजयः॥"

कवि-कुल गुरु कालिदास ने रघुवंश में दिलीप के गोचारण-रत जीवन का दृश्य उपस्थित करते हुए सकेत किया हैः—

"अथ प्रजानामधिप प्रभाते जाया प्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनमृषेर्मुमोच।"

साथ ही प्रकृति का लीला-क्षेत्र, सुमनो की क्रीड़ा-भूमि वनस्थली का वसत में दृश्य देखिये :—

"कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्॥
प्रथममन्यभृताभिरुदीरित. प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मितावनराजिषु॥

इस प्रकार वन और फूल दोनो ही कवि को एक विलक्षण उल्लास, गति और मस्ती प्रदान करते है जिसमें झूमकर वह संगीत की अजस्र तरगिणी प्रवाहित करता जाता है।

वन और फूलो को देखकर कौन मुग्ध नही होता, विशेष रूप से उनके वासन्ती रूप, शोभा और छवि को देखकर तो बडे-बडे मुनियो के ध्यान टूट जाते है। सिद्धहस्त कविकर्मकुशल कवियो को जाने दीजिये। सूफी प्रेमाख्यानकार कवि शेखनिसार ने अपने ग्रन्थ 'यूसुफ-जुलेखा' में वर्णन किया है :—

"रितु बसंत बन आदिन फूला। जोगी जती देखि रगु भूला।
फूले फूल अली गुंजारहिं। लागी आगि अनार की डारहिं।
कुसुम केतकी मालति वासा। फूले भँवर फिरहिं चहुँ पासा।
टेसू फूल तो कीन्ह अंजोरा। लागी आगि जरै चहुँ ओरा॥"

यह बन और फूलो की माया है। जब उसके मादक प्रभाव से मुग्ध होकर पशु और पक्षी, कीट-पतंग, मुग्ध हो सकते है, तब सहजसवेदनशील मनुष्य की क्या बात है।

वन और फूल का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वन रगमच है तो फूल अभिनेता ; वन शरीर है तो फूल-भाव , वन आकाश है तो फूल उसमें उगने मुरझाने वाले नक्षत्र, वन तन है तो फूल आभरण , वन उत्तरीय है तो फूल उसके बूटे, वन भित्ति है तो फूल चित्र। अत वन और फूल समग्र शोभा में अभिन्न है। फिर भी :—

"गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।"

के अनुसार दोनो की अलग-अलग प्रेरणाएँ और प्रभाव है , किन्तु काव्य को प्रेरणा देनेवाले दोनो एक साथ भी है, अलग-अलग भी। हिन्दी के शब्द-पारखी, कुशल कवि सोनापति ने दोनो से ही काव्य की प्रेरणा पाई है। देखिये:—

"लाल लाल टेसू फूलि रहे है विसाल, संग ,
स्याम रंग भेंटि मानौं मसि मै मिलाये है।
तहाँ मधुकाज आइ बैठे मधुकर-पुंज ,
मलय पवन उपवन-वन धाये है।
सेनापति माधव महीना में पलास-बन ,
देखि-देखि भाव कविता के मन आये है।
आधे अनसुलगि, सुलगि रहे आधे मानौं ,
विरही दहन काम क्वैला परचाये है॥"

कवि के लिए प्रकृति जड़ नही, वह तो समस्त जड़ कही जानेवाली प्रकृति में भी आत्म-विस्तार देखती है। जैसे मानव के व्यापार है वैसे ही

प्रकृति के व्यापार, अत. फूल केवल अचेतन वस्तु नही, वरन् विभिन्न भावनाओ और चेष्टाओ के प्रतीक है। समस्त प्रकृति मनुष्य की दशा से प्रभावित होती है। उसके साथ सहानुभूति का भाव प्रदर्शित करती है। हँसी मे हँसती और दु:ख मे आँसू बहाती है। देखिये जायसी कहते है:—

"राते बिंब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक फाट हिय गोहूँ।
राते फूल अगिनि भइ काया। गगन मेघ राते तेहि छाया।।"

इस प्रकार वन और फूल विभिन्न रूपो, स्थितियो और व्यापारो के अनुसार विभिन्न भावो के प्रतीक है। वह कभी भय का प्रतीक है, तो कभी निराशा और करुणा का। गोस्वामी जी के मानस के कथनानुसार —

"सिय वन बसहि तात केहि भाँती। चित्रलिखित कपि देखि डेराती।
वन हित कोल किरात किसोरी। रची विरचि विषय सुख भोरी।।"

आदि पक्तियो मे वन की भयकरता का, तथा महादेवी वर्मा की पक्ति 'कम्पित वानीरो के वन भी, रह-रह करुण विहाग सुनाते' मे वन निराशा और कारुण्य का प्रतीक है।

फूल भी काव्य मे विभिन्न भावो के प्रतीक होकर व्यक्त हुए है। फूल हँसी के प्रतीक है, सुन्दरता और सुकुमारता के रूप है, आशा के आलम्बन है और मुख-नेत्र आदि सुन्दर अङ्गो के उपमान है, रमणी के सहज शृंङ्गार है, देवार्चन के उपकरण है और विकास के द्योतक है। 'हँसने मे फूल और रोने मे मोती' का दर्शन कवि करता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न सुकुमार भावो, क्रियाओ, गुणो और चेष्टाओ का भी सकेत फूलो के माध्यम से हुआ है। देखिए:—

"कुम्हला गई चाँदनी, जैसे निशिगन्धा का फूल"

+ + +

"तारे चूने लगे फूल ज्यो झरते शेफाली से"

+ + +

"तुम सोने के रँग से उजली, सरसो के फूलो से हलकी"

(पलाशवन)

तीव्र भावो के सकेत, सघनता, उत्कर्ष और विकास स्पष्ट करने मे फूलो की कलियो के खिलने, विकसित होने और समस्त वायुमण्डल को प्रभावित करने के व्यापार का माध्यम बनाकर कवि किस सफलता से हमें मन्त्रमुग्ध-कर लेता है, यह नीचे की 'पलाश' पक्तियो से स्पष्ट है। भाव की गति और उसका सक्रामक प्रभाव दर्शनीय है.—

"पतझर की सूखी शाखो में लग गई आग शोले दहके।
चिनगी सी कलियाँ खिली, और हर फुनगी लाल फूल लहके।
लग गई आग, बन में पलाश, नभ में पलाश, भू पर पलाश।
लो, चली फाग, हो गई हवा भी रग भरी छूकर पलाश।।"

अनेक लोकगीतो में फूल आन्तरिक प्रेमभाव के प्रकाशन के सुन्दर माध्यम बन कर आये है। इसके अतिरिक्त कही-कही युवावस्था के विकास का वडा सुन्दर सकेत करते है। देखिये एक चैती की इन पक्तियो में यह पूर्णतया स्पष्ट है :—

"नईं भेजे पतिया, आइल चइत उतपतिया।
बेला चमेली फूले बगिया में, जोबन फूलल मोरी अँगिया।
नईं भेजे पतिया।।"

इसी प्रकार एक गीत में लाल आँखो के उपमान रूप फूल का दर्शन कीजिये :—

"जोगिया की लाल लाल अँखियाँ है, जैसे चम्पा के फूल।"

ऐसे अनेक गीत है जिनमें फूल विविध भावो के प्रतीक और माध्यम होकर आये है। काव्य फूल जैसी सुन्दर, सुकुमार, उल्लास, हर्ष का सकेत करनेवाली वस्तु से वंचित होकर कैसे पनप सकता है? इसके असख्य उदाहरण दिये जा सकते है। उद्दीपन और शृगार के साधन के रूप में फूलो का मनोहारी वर्णन एक छन्द में देखिये —

"फूलि रहे बन बाग सबै लखि, फूलनि फूलि गयो मन मेरो।
फूलन ही को बिछावनो कै, गहनो कियो फूलन ही को घनेरो।।
लाल पलासन में चहुँ ओरन, आत बिलास कियो घन घेरो।
ऐसेहि फूल फैलाइ फैलाइ, परो ऋतुराज को मानहु डेरो।।"

अत फूलो का वडा मोहक और व्यापक प्रभाव है। इन्ही फूलो के लुभावने और अन्तस् को आन्दोलित कर देनेवाले रूप के कारण ही मन्मथ के वाणो की सज्ञा प्राप्त हुई है। फूल के इस प्रभाव पर ही दृढ विश्वास करके एक वियोगिनी कहती है —

"फूलन दे वन टेसू कदंवन अंबन बौरन आवन दै री।
री मधुमत्त मधूकनि पुंजन, कुंजन सोर मचावन दै री।

क्यों सहिहैं सुकुमारि 'किशोर' अली कल कोकिल गावन दै री।
आवत ही बनिहैं घर कंतहि वीर वसंतहि आवन दै री॥"

उल्लास और हर्ष के भावो के अतिरिक्त फूलो पर केन्द्रित, वीरता, निराशा, करुणा, शोक और अचरजपूर्ण रहस्य-भावनाओ के भी प्रकाशन हुए है। ऐसे स्थलो में मनोभूमि सामान्य न होकर विशिष्ट सस्कारो और परिस्थितियो से निर्मित हुई है। वीरता के भाव के आलम्बन रूप देशप्रेम को जाग्रत करनेवाली माखनलाल चतुर्वेदी की 'फूल की चाह' की पक्तियाँ :—

"मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जायें वीर अनेक॥"

परम प्रसिद्ध है ही और चिरस्मरणीय रहेंगी। इसके अतिरिक्त फूल करुणा-पूर्ण शोक के भी आलम्बन रूप में आये है। रामनरेश त्रिपाठी के निम्मलिखित छन्द में इसी भाव का प्रकाशन देखिए :—

"हा! वह फूल किसी दिन अपनी सुन्दरता से गर्वित,
आया था जग में उमंग से किसी वासना से आकर्षित,
पर देखा क्या? क्षणभंगुर सुख, आशा और मृत्यु का सगर,
मुरझ गया होकर हताश अति, सौरभ का निःश्वास छोड़कर।"

इस प्रकार विविध भावो के प्रेरक फूल को लेकर काव्य की असंख्य पंक्तियाँ लिखी गई है और ऐसे उद्गार स्मरणीय और काव्य की शोभा है। कोमल से कोमल और गंभीर से गभीर भाव, फूल का आश्रय लेकर व्यक्त हुए है। आश्चर्यपूर्ण रहस्य-भावना का भाव हरिऔध जी के इस छन्द में देखिये—

"सेमल को लाल लाल सुमन मिले है कहाँ
पीले पीले फूल दिये किसने बबूलो को?
तुली तूलिकाएँ ले ले कैसे साजता है कौन,
सुललित लतिका के कलित दुकूलो को?
"हरिऔध" किसके खिलाये कलिकाएँ खिलीं,
दे दे दान मंजुल मरंद अनुकूलों को।
किससे रँगीली साड़ियाँ है तितली को मिली,
कौन रँगरेज रँगता है इन फूलों को?"

इस प्रकार फूल और वन अलग-अलग एक साथ शाश्वत् मानव-भावनाओ की सूक्ष्म, सहज और रहस्यमय अभिव्यक्ति में कवि को चिरकाल से प्रेरणा देते रहे है और अनन्त काल तक देते रहेंगे। पृथ्वी पर स्वर्ग को उतारनेवाले फूल है, मनुष्य को देवता बनानेवाले फूल है। प्रकृति के ये शृगार है और शिशु की सुकुमारता इन्ही में है। इसी से हमारा साहित्य और विशेष रूप से काव्य इनके वर्णनो से ओतप्रोत है।

कवि का सत्य

सत्य की खोज, सत्य का अन्वेषण, सत्य की परख और सत्य का ग्रहण, मनुष्य-जीवन का पुरुषार्थ है। आज हमारे बीच सत्य-व्यवहार के प्रति यथार्थ भावना एव आवश्यक मनोयोग न होने के कारण व्यक्ति और समाज का आचरण इतना दूषित होता जा रहा है कि सदिच्छा एव सद्भावना से प्रेरित राजकीय विधान एव दड-भय भी उसे रोकने में समर्थ नही है। मनुष्य स्वय इतना सबल एव सक्षम है कि व्यक्ति तथा समाज के रूप में उठना चाहे तो उठते देर नही लगती और गिरना चाहे तो गिरते-गिरते रसातल तक पहुँच सकता है। अतः ऊपरी भार-दबाव, डर-धमकाव उसे उस समय तक उठा नही सकते जब तक कि उसके भीतर स्वय उठने की इच्छा न हो और इस इच्छा का उदय एव विकास सत्य के प्रकाश के साथ ही होता है।

अतएव प्रारम्भ से लेकर आज तक दार्शनिक सत्य की खोज में, वैज्ञानिक सत्य के अन्वेषण में, समाज सुधारक सत्य की परख में तथा कवि एव साहित्यकार सत्य के ग्रहण, विकास एव प्रसार में सलग्न है। सत्य की खोज और अन्वेषण व्यर्थ है, यदि परखने और उसे ग्रहण कर उपयोग में लानेवाले न हो। सत्य का यथार्थ उपयोग तभी हो सकता है जब उसके प्रति हमारी एक पवित्र भावना हो और हमारी नैतिकता का वह विकास कर सके, अन्यथा शुद्ध बुद्धि एव विवेक के अभाव में उसको तोड़-मरोड कर, उसके रूप को विकृत कर अपना स्वार्थ-साधन करनेवाले, योग्य को अयोग्य और निरपराध को सापराध सिद्ध करनेवाले बुद्धिजीवी वकीलो की हमारे देश में कमी नही है। वैज्ञानिक का सत्य भी ससार का कल्याण तभी कर सकता है जब ससार के लोग उससे अपना कल्याण कराना चाहें और सत्यान्वेषण के प्रति मगलमयी, पावन मानवता की भावना उनके हृदय में विद्यमान हो, अन्यथा अणु बम और विविध विषैली गैसो का भय, आशका और दुष्परिणाम हमारी आँखो के समाने ही है।

दार्शनिक का सत्य हमारे बौद्धिक जगत् को प्रभावित करता है और वैज्ञानिक का सत्य भौतिक जगत् को, किंतु हमारे भाव एव कल्पना जगत् को

आन्दोलित, विकसित, परिष्कृत एव प्रभावित करनेवाला सत्य कवि का है। दार्शनिक का सत्य सर्वजनग्राह्य नही है और वैज्ञानिक का सत्य पदार्थगत, भौतिक एव बाह्य है। एक में गहराई है किन्तु सुगमता एव सरलता नही, दूसरे में सुख है किंतु आनन्द, आभ्यतर-प्रवेश-क्षमता, सौन्दर्य तथा रमणीयता नही। अत सामान्य शारीरिक एव बौद्धिक आवश्कताओ के पश्चात् जो विशेष प्रभाव डालनेवाला सत्य है, वह कवि का सत्य है, काव्यगत सत्य है।

साधारणतया हम यह समझते है और समझते आये है कि कवि का सत्य से कोई सम्बन्ध नही, पर विचार कर देखें तो कवि न केवल सत्य का आधार ही लेता है, वरन् सत्य की खोज, परख एव उसका ग्रहण भी करता है। कवि खोजे हुए सत्य के नग्न ढाँचे को लेकर उस पर रग एव रूप भरता है और उसे सरस एव सजीव बना देता है, यथार्थ के नीरस ठूँठ को वह कल्पनागत आदर्श से पल्लवित-पुष्पित, तथा हरा-भरा एव लहलहा कर देता है। दार्शनिक के सत्य, वैज्ञानिक के अन्वेषण एव इतिहास-वेत्ता की खोज को यथार्थ, उपयोगी एव आकर्षक बनाना कवि का ही काम है। पर इससे भी अधिक महत्व का कार्य कवि के लिए है, सत्य को अपने मूल-चारुत्व में ग्रहण कर उसकी अपने सहज सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्ति करना। कवि की यथार्थ महत्ता इसी में छिपी रहती है।

दार्शनिक एव वैज्ञानिक वास्तविक सत्य के तत्वमात्र को ग्रहण करते है, पर कवि उतने से सन्तुष्ट नही हो सकता, वह सत्य के भीतर जितना भी सौन्दर्य एव आकर्षण है उस सबको अपनी कल्पना और अनुभूति की सवेदन-शीलता से ग्रहण कर, उसको एकागी रूप न देकर पूर्ण एव मनोहारी रूप देने का प्रयत्न करता है। फूलो पर पडे हुए हिमकण, दार्शनिक की दृष्टि से क्षण-भगुर है, वैज्ञानिक की दृष्टि से, 'ऑक्सीजेन' और 'हाइड्रोजेन' गैसो का एक विशेष अनुपात में सम्मिश्रण है, पर कवि की दृष्टि से वे इतने ही नही है। वे फूलो के मुखो को सजानेवाले लुभावने मोती भी है और गगन के नक्षत्र भी, वे सौन्दर्य के तरल विंदु भी है और करुणा के आँसू भी, साथ ही और न जाने क्या क्या! चन्द्रमा, एक उपग्रह है, एक गगनचारी पिण्ड है, पर क्या इतने विवरण से उसके सम्पूर्ण स्वरूप का उद्घाटन हो जाता है। यदि हो जाता तो कवियो की अब तक की, सुन्दरी रमणी के मुख, सुधाभाडार, हिमाशु, रजनीपति, सोम, शीतकर आदि की कल्पनाएँ हमें मान्य न होती। इन सब प्रकार की विधियो से वह सत्य के उस अपूर्ण रूप को पूर्ण करने का

प्रयत्न करता है, जो केवल बुद्धिग्राह्य नही वरन्, अनुभूति एव कल्पना-द्वारा ग्राह्य होकर ही पूर्ण होता है। सत्य का विशेषत वही पक्ष कवि-सत्य है, जो कल्पना एव अनुभूति से ग्राह्य होता है पर बुद्धि-ग्राह्य सत्य उसका मार्ग-प्रदर्शक अवश्य होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि कवि का प्रयत्न, सत्य को अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ ग्रहण करना होता है। जब कवि काव्य को इस रूप में देखता है तभी वह यथार्थ काव्य हमें दे सकता है, कवि का स्वानुभूत सत्य, सौन्दर्य को छोड नही सकता, वह सौन्दर्य से भिन्न नही है। तभी तो अगेजी के प्रसिद्ध कवि 'कीट्स' ने कहा है। कि "सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है, यही जानना रे लिए सब कुछ है (Beauty is Truth, truth beauty, that is all.)। इसी सत्य का उद्घाटन करनेवाले कवि काव्य-विवेक से रहित होकर भी हमारे बीच पूर्ण प्रतिष्ठित है। गोस्वामी तुलसीदास का सम्मान इसी कारण है कि उन्होने जो जीवन का सत्य है उसका स्पष्ट किया है। इस बात को उन्होंने अपनी प्रारम्भिक प्रतिज्ञा में ही 'रामचतिमानस' मे इस प्रकार व्यक्त किया है—

"कवित विवेक एक नहिं मोरे।
सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।।"

यहाँ तक कि अपने वदनीय भगवान शकर से भी वे यही याचना करते है कि:—

"सपनेहुँ साँचेहुँ मोहि पर, जौ हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होइ जो कहहुँ सब, भाला भनिति प्रभाउ।।"

अत जिन्होने भी आन्तरिक-प्रेम से विह्वल होकर लिखा है, उन्होने स्वानुभूत सत्य को ही प्रकट करने का प्रयत्न किया है, यदि यह न होता, तो सत्य की अनुभूति करनेवाले अन्य अनेक रहस्यवादी सन्त कवि अनचाहे कवि न बन जाते। कबीर, जायसी आदि इसी प्रकार के कवि है। तो सत्य की झलक कवि का सम्बल है, जिसके सहारे अपने विषम पथ पर भी वह स्वानुभूति के उत्स से अमृत की मधुरिमा ग्रहण करता रहता है।

हाँ, यह बात माननी पडेगी कि सत्य का स्वरूप, युग के अनुकूल अपनी आभा बदलता रहता है। यहाँ पर एक यह बात भी ध्यान देने की है कि युग-युगान्तर में अन्य सत्य जितने शीघ्र तिरस्कृत एवं अनुपयोगी हो जाते है, उतने शीघ्र काव्यगत सत्य नही। अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य को सँजोये रहने के

कारण उसका आकर्षण, उसकी आभा कभी नितान्त फीकी नही पडती ; दूसरे अधिक आकर्षक एव रगीन स्वरूप को सामने पाकर कुछ धीमी चाहे भले ही पड जाय। युग-युगान्तर में ग्रहण किये गये काव्यगत सत्य, विभिन्न मणियाँ है जिनके सूत्र बदलते रहते है। किसी युग में यदि उन्हे पिरोनेवाला सूत्र भक्ति का है, तो दूसरे युग में शृगार एवं विलास का। एक युग में वह करुणा का है तो दूसरे युग में देशप्रेम का। एक युग में वही सूत्र समाज-सुधार का है, तो दूसरे युग में साम्यवाद का। इस प्रकार सूत्र पुराने अवश्य होते रहते है, पर मणियो की चमक-दमक थोडे प्रयास करने पर वैसी ही बनी रहती है। यही दशा काव्यगत सत्य की भी है। वैज्ञानिक एव दार्शनिक सत्य-सिद्धात यदि आगामी युग में असत्य सिद्ध हो गय, तो फिर उनका कोई मूल्य नही ; आगे का युग उसे ग्रहण नही करेगा ; पर काव्यगत सत्य कभी भी नितात तिरस्कृत नही होते। सूर्य, पृथ्वी के चारो ओर घूमता है, इस मान्यता का अब कोई मूल्य नही , पर हस का क्षीर-नीर विवेक, चन्द्रमा का अमृत, आकाश की दुग्धगगा (Milky way), यश का श्वेत एव अनुराग का लाल रग, नरक आदि काव्यगत सत्य अब भी समादृत है।

काव्य के लक्षणकारो ने प्राय काव्य के बहिरग पर विचार कर कवि को अपने इस सत्य-खोज के पथ से भ्रष्ट किया। ऐसे अनेक समय आये जब वह जीवन में सत्य के सदेश को भूलकर केवल वाग्वैदग्ध्य के ही फेर में पड गया। इसका परिणाम यही हुआ कि कवि, कवि न रहा और उसकी कृति शाश्वत् काव्य न हो पायी।

सत्य की खोज सहज नही है। उसके लिए अथक साधना करनी पडती है, पर हमारा कवि और हमारा समाज दोनो ही उसके लिए तैयार नही है। कवि जब तक जीवनमृत की भाँति जीवन-समुद्र में गहरा गोता नही लगावेंगे, तब तक मोती और माणिक्य हाथ कैसे लग सकते है ? कवि ऐसा नही कर रहे, इसमें केवल उनका ही दोष नही। हमारे समाज और शासन दोनो पर इसका उत्तरदायित्व है।

यदि हम कवि से यथार्थ काव्य की आशा करते है, तो हमें उसे साधना का अवसर एव सुविधा देनी होगी। आज का कवि अपने पूर्ण रूप में कवि नही, यह सत्य है, पर यह भी सत्य है कि आज का समाज कवि के प्रति अनुदार है। हम यदि कवि से सत्य के सुन्दर रूप को पाना चाहते है, तो हमें उनको खोजने की, ग्रहण करने की सुविधा एवं स्वच्छदता देनी चाहिए। उसमें यदि सचमुच कवित्व की प्रतिभा है, तो हमें उसका सम्मान करना

चाहिए। मम्मान से वेलें लहलहाती है, पौधे फलते फूलते हैं, पशु तक मुग्ध होते है, फिर मानव और कवि का क्या कहना है? हमारे लिए आवश्यकता है कि कवि और साहित्यकार का सम्मान करें, उसका पथ-प्रदर्शन भी करें। उसकी एकातप्रियता और असमृद्धता पर जव से हम कवि का तिरस्कार करने लगे, तभी से सभी कवि वन गये है और कोई कवि नही रह गया। अपने अतीव भौतिक दृष्टिकोरा से इस सवल युग में हमने काव्यगत सत्य का वलिदान कर दिया है। व्यापारिक एव आर्थिक दृष्टिकोरा-मात्र प्रधानता धाररा कर रहा है, और जिसकी वेदी पर हम अपने आभ्यन्तर विकास एव सस्कृति की वलि दे रहे है।

कवि का सत्य, समाज का वल है। वह हमारी प्रवृत्तियो का परिष्कार करता है, उनको अपने सहज अमृत से सीच कर विकसित करता है, और आनन्दपूर्वक जीवन-यापन की कला वताता है। आज तक विभिन्न सभ्यताओ एव सस्कृतियो का प्रयत्न यही जानने का रहा है कि जीवन को सफल एवं आनन्द-पूर्ण कैसे विताया जा सकता है? विज्ञान आविष्कारो-द्वारा मानव को श्रम से मुक्त कर शारीरिक एव भौतिक सुविधा देने में प्रयत्नशील है, राजनीति और दर्शन समाज को एक सूत्र में बाँधनेवाले और आध्यात्मिक सिद्धातो की खोज और प्रसार में सलग्न है, पर काम विना कवि की सहायता के नही चल सकता। समाज, केवल भौतिक सुविधा पाकर ही आनदित नही हो सकता, केवल सिद्धात प्राप्त कर उस पर चलने नही लगता, जब तक कि इनके मूल में और हमारे जीवन में व्याप्त जो सत्य एव सौन्दर्य है उनका सम्मिलन नही होता। इन सत्य सिद्धातो के प्रति अनुराग और पावन भावना बनाना कवि का काम है। अतः आज की परिस्थिति में हमें प्रमुख कठिनाई हो रही है वह इसी काररा से कि हमें 'काव्य का सत्य' अगम्य है। यदि यह सुगम हो जाय, तो हमारे मन, हृदय और बुद्धि का समन्वय हो सकता है और फिर पारस्परिक प्रेम एव सम्मान के भाव पनप कर हमें विकसित करेंगे और ईर्ष्या-द्वेष, आलोचना या दोष-दर्शन के भाव शात होगे। ऐसा होने पर ही एक साथ हमारे बाहुओ में बल, मन में ओज, मुख पर प्रसन्नता, हृदय में उत्साह और प्रेम, बुद्धि में विवेक तथा आत्मा में आनद-उल्लास प्रवाहित हो सकेगा। कवि का सत्य हमारे जीवन का सत्य है, हमारे हृदय और भावनाओ का सत्य है जिसके माध्यम से ही हम एक दूसरे से मिले हुए है।

साहित्य में आदर्श और यथार्थ

मानव-ससार अपने शैशव में प्रकृति की वस्तुओ को श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। कारण था, जगत् के वास्तविक सत्य की अनभिज्ञता से उत्पन्न प्रकृति का रहस्यपूर्ण प्रभाव। मानव की जाग्रत कल्पना अपने जीवन-सबधी अनुभवो के उपरात किसी कोमल और सौन्दर्यमयी सत्ता को एक स्वप्निल-दृष्टि से देखती थी। उसकी मृदुल और भयभीत भावनाएँ जहाँ कही सौन्दर्य और शक्ति देखती थी, वहाँ वह किसी स्वर्गिक मुसकान अथवा दैवी-प्रकोप का अनुभव करती थी। खिले हुए फूल, कलकलनिनादिनी सरिता, सुरभित समीर उल्लासित "कुहू-कुहू" और "पी कहाँ" रग-विरगे पक्षी जहाँ हृदय में आनन्दात्मक उल्लास भरते थे और एक अविश्लेष्य रहस्य का अनुभव होता था, वहाँ ही कड़कती विद्युत्, गरजते मेघ, आँधी, ऊर्मिलसागर और सिहनाद एक देखी और अदेखी शक्ति के समन्वय से भय का सचार करते थे। सत्यतथ्य की आच्छन्नता में मनुष्य की कल्पना सदैव सचत और सचेष्ट रहती है और उन प्रारम्भिक दिनो में सत्यता की खोज का प्रयत्न मानव अपनी काल्पनिक शक्तियो के सहारे कर रहा था। यही प्रत्येक भाषा के प्रारम्भिक साहित्य के कुछ रहस्य-पूर्ण और आदर्शवादी होने का कारण है।

श्रद्धा और रहस्य की भावनाओ का मूल धीरे-धीरे तथ्य की खोज के झकोरो से हिलने लगा। प्रारम्भ में प्रतिभा और शक्ति के प्रति जो एक अलौकिकता से आलम्बित श्रद्धा का प्रकाशन किया जाता था, वह धीरे-धीरे कम हुआ। राजा की दैविक अविकृति और शक्ति पर लोगो का विश्वास हटा और आदर्श और रहस्य की भावना वर्तमान व्यक्तित्व के प्रति कम होकर अतीत व्यक्तित्व की ओर विशेष रूप से प्रवृत्त हुई, जिसका सहारा लेकर आज तक आदर्शात्मक साहित्य का सृजन होता जा रहा है। आदर्शात्मक साहित्य-रचना का कारण विश्व के अविचलित नियमो की खोज के साथ-साथ भी उनकी सचालक शक्ति का आभास है और वर्तमान समय में तथ्य के

अनुभव और दिग्दर्शन के साथ-साथ भी विशालता की अनुभूति के आधार पर पूर्णता की ओर प्रगति दने का विचार आदर्श साहित्य के सृजन की मूल में है। अतएव आदर्शवाद का अन्त कभो नही हो सकता। यथार्थवाद के अन्तर्गत भी एक आदर्शवाद ही है। हाँ, यह उसका केवल परिवर्तित स्वरूप है।

प्रवृत्ति के विचार से दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते है। एक प्रकार के व्यक्तियो की दृष्टि सदैव किसी भी वस्तु के गुणो पर ही रीझती है और दूसरे प्रकार के व्यक्तियो की दृष्टि केवल अवगुणो की ओर विशेष रूप से रहती है। यद्यपि दोनो दृष्टियो में स्वभावत तथ्य ही आता है, केवल तथ्य के दो पहलू हो जाते है। काल्पनिक शक्तियो के प्रावल्य में प्रायः मनुष्य गुणो की ओर आकर्षित होता है। अतः उसका चित्रण सदैव आदर्शवाद से पूर्ण होगा, जब कि दूसरे प्रकार का चित्रण यथार्थवाद के नाम से पुकारा जाता है। अथवा यो कहें कि यथार्थवादी वह है, जो गुण-अवगुण में से किसी को भी नही छोडता, जब कि आदर्शवादी की दृष्टि वर्ण्य वस्तु के गुणो पर ही मुग्ध हो जाती है और अवगुण भी गुण हो जाते है। आदर्शवादी एक प्रेमी कलाकार होता है, उसका हृदय अनुराग से ओत-प्रोत है, फिर जो हृदय अनुराग से लहरित हो सकता है उसमें उतनी ही शक्ति विराग की भी रहती है, अतः वह किसी की बुराई भी, अपने अनुराग के आधारभूत विषय की प्रशसा करने में अधिक दिखला सकता है।

अत. हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि आदर्शवाद जहाँ हमें चरम सीमाओ की ओर ले जाता है, वहाँ यथार्थ मध्य पथ को ग्रहण करता है, जहाँ से दोनो छोरें सुगमता से देखी जाती है। इस प्रकार हम प्रवृत्ति विशेष को ध्यान में रखकर कह सकते है कि यथार्थवादी लेखक, कवि कम होता है, आलोचक अधिक होता है। कवि जब अपनी वस्तु में रम जाता है, तब दूसरी ओर उसकी दृष्टि नही जाती, किन्तु आलोचक की पैनी दृष्टि हृदय को आत्मविस्मृति के साथ कही भी नही रमने देती है, वह एक पहलू के साथ-साथ दूसरे पहलू पर भी दृष्टि रखता है। अत आदर्शवादी साहित्य-रचयिताओ में साधना की विशिष्टता और यथार्थवादी लेखको में जिज्ञासा और अनुभव की तीव्रता प्रधान रूप से कार्य करती है।

विषय की दृष्टि से भी आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनो ही यथार्थ का चित्रण करते है। जिसे हम यथार्थवाद कहते है, वह जीवन की साधारणता का चित्रण हमारे सम्मुख उपस्थित करता है और जिसे हम आदर्शवादी साहित्य

कहते है, वह जीवन के असाधारण व्यक्तित्व को सृष्टि करता है, किन्तु है वह भी यथार्थ। वह चित्रण भी जीवन का एक अग होता है। हाँ, उसमें चुनाव की आवश्यकता विशेष रूप से पडती है।

आदर्शवादी साहित्य व्यक्तिप्रधान विशेष होता है और उसका नायक अथवा विषय भी ऐसा होता है, जो कि जन-साधारण के बीच में कुछ विशेषता रखता है और जिसकी ओर सर्वसाधारण की दृष्टि स्वभावत खिच जाती है। उन आकर्षक प्राकृतिक गुणो से युक्त मानवसमाज कुछ विशेष सुखमय एव सगठित रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह शक्ति और विशेपताओ का आकर्षण धीरे-धीरे प्रेम का रूप धारण कर लेता है और जनसमाज उसके जीवन में उसकी प्रतिष्ठा व पूजा और उसके चले जाने पर स्मारक और जयन्ती आदि के रूप में उसका स्मरण करता है। ये विशेषताएँ जीवन की ही विशेपताएँ है, उनमें सत्यता है किन्तु वे सर्वत्र सदैव नही मिलती, इसी कारण से मानव को उनकी स्मृति का लोभ रहता है, और इस प्रकार के ग्रथो व साहित्य का आजकल प्रतिक्रिया रूप में चाहे कितना विरोध हो, समाज में सदा आदर होता रहेगा।

वर्तमान प्रगतिवाद भी आदर्शवाद के ही विशेष निकट है। दोनो में अन्तर यह है कि आदर्शवाद विशेष व्यक्तित्व को लेकर उसके गुणो की ओर हमें खीचता है और उसके चरित्रो का अनुकरण सासारिक समस्याओ के समाधान के लिए उपयुक्त समझता है और प्रगतिवाद हमारे अन्तर्गत सामाजिक और नैतिक चेतना जाग्रत करता ह, समाज के दुःखो की ओर हमारा ध्यान ले जाता है और जीवन-समस्याओ को, सामाजिक विषमताओ को विकराल रूप में—जैसा कि हम नित्य के जीवन में नही देखते—उपस्थित करता है। प्रगतिवाद का ओज, विलाप, करुणा, पश्चात्ताप आदि जहाँ सामाजिक महत्त्व रखते है वहाँ आदर्शवाद का महत्त्व व्यक्ति विशिष्ट के दृढ चरित्र पर विश्वास रखने में है, किन्तु इस अविश्वास के युग में, श्रद्धा व रीझने के गुण के स्वाभाविक अभाव में, सामूहिक समस्याओ को सम्मुख उपस्थित कर, एक स्थायी भावना भर देना—यदि प्रगतिशील साहित्य द्वारा साध्य हो सके तो हमें इस विषय पर इसके पश्चात् और कुछ विचारने का अवकाश मिल जायगा।

प्रगतिवाद में यथार्थवाद की पृष्ठभूमि पर आदर्शवाद का सन्देश रहता है। यथार्थवाद एक वातावरण के रूप में होता है और आदर्शवाद उसमें पनप सकता है। प्रगतिवाद सामूहिक होता है, समष्टिगत होता है, व्यक्तिगत नही। ऐसे चित्रण में सजीवता का स्थान विशेष प्रधान है, व्यक्तित्व का

उतना नही। हमने प्राचीन आदर्श चित्रणो में देखा है कि एक व्यक्ति के व्यक्तित्व के प्रभाव में दूसरो का व्यक्तित्व दवा हुआ-सा रहता है। रामायण के कथानक में भरत, उर्मिला, कौशल्या, वसिष्ठ, हनुमान, सभी एक-एक काव्य क पात्र होने के गुणो से सम्पन्न हैं, फिर भी राम के विशाल व्यक्तित्व के सम्मुख सभी दवे हुए है। एक सार्वकालिक व समर्थ व्यक्तित्व अन्य को दाव देता है, किन्तु इस प्रकार के चित्रण पर अयथार्थता का लाञ्छन नही लग सकता। जीवन में इस प्रकार के चरित्र मिलते है। आधुनिक युग में ही देखिये, गाधी, मालवीय, जवाहर, रवीन्द्र आदिक है, जो कि अन्य समयो में इनमें से प्रत्येक सर्वश्रेष्ठ व्तक्ति होने की सामर्थ्य रखता है, किन्तु एक के विशाल व्यक्तित्व के सामने और सव दवे है। अत रामचरितमानस का चित्रण भी जीवन को देखते हुए सच्चा ही है। साहित्य का प्रभाव सदैव स्वाभाविकता व यथार्थता के कारण ही होता है और जो रचनाएँ जीवन से अलग केवल कल्पना के आधार पर लिखी गई है, उनका सामूहिक जीवन पर कोई प्रभाव नही, वे उसे वल नही दे सकती। जिससे जीदन को वल मिले, वही साहित्य, वही रचनाएँ हमारे काम की है।

यथार्थवाद तत्वत आदर्शवाद के विपक्ष में उतना नही, जितना कि छायावाद के। छायावाद का अधिकाश, जीवन की भावनाओ को व्यक्तिगत विशेषता के साथ ही सम्मुख रखता है और फिर उसमें जीवन के चित्रो की काल्पनिक छाया है, स्थूल आकार नही, कल्पना को उससे सन्तोष होता है, पर हृदय भूखा ही रह जाता है। हम उसमें न खुलकर हँस सकते है, न रो सकते है, न क्रोध कर सकते है और न खेल ही सकते है, उसमें काल्पनिक विलाप है, जिस तक प्रत्येक की पहुँच नही, सर्वसाधारण का वह गान नही वन सकता। अतः हमें कुछ अपने स्थूल, जोवन में देखे-सुने चित्रो को चाहिए, जिनके साथ हम हँसकर, रोकर, अपने भावो को प्रकाशित कर अपने को हल्का कर सकें। रोगी के गुप्त रोग की भाँति छायावादी करुण भावनाएँ हृदय के किसी कोने में घुस जाती है, किन्तु न वे आन्दोलन ही उठाती है और न विह्वल ही करती है; उनमें एकाङ्गीपन रहता है। मनुष्य सदा देवता नही वना रह सकता, उसे ससार को अपना समझकर ही जीवन में आनन्द मिल सकता है। अत हमारे साहित्य में सजीवता का होना आवश्यक है, जिसमें कि जीवन के छोटे-बडे आनन्द, उल्लास, हँसी, परिहास, व्यंग्य, करुणा, विलाप आदि का जीता-जागता चित्र हो और हम कह सकें कि हाँ, हमने ऐसा होते देखा है।

स्मृति के रूप में हमारे मस्तिष्क में जितने भी अनुभव सोते है, वे सभी साहित्य के द्वारा उकसाये जाकर आनन्द व बल देने में सहायक हो सकते है। अत कवि और कलाकार की इन्ही सोते हुए अनुभव के स्तरो को खोज निकालने में ही हृदयता और प्रतिभा है। अत इस प्रयास में जहाँ हम कहते है कि हम आदर्श से यथार्थ की ओर आ रहे है, वहाँ हम तत्त्वत. छाया से हटकर सजीवता की ओर बढ़ रहे है। जहाँ, इस सजीवता के पास आकर हमारी सभी ऊँची-नीची भावनाएँ एक प्रबल हिलोर में झूम उठें, हमारा हृदय अनुभूत भावनाओ से भरा और स्मृतियो से विह्वल हो, हम अपने मुख से कवि के गीतो को गा उठें और समझे कि जीवन का यह नया अनुभव है, वही कविता का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

इसी स्तर पर आकर साहित्य के यथार्थ, आदर्श, छाया, प्रगति आदि सजीवता से सम्बन्धित हो सभी वाद एक हो जाते है; यही से साहित्य की महत्ता जीवन के लिए प्रारम्भ हो जाती है और साहित्य केवल अवकाश का मनोरजन न रह कर जीवन का पोषक हो जाता है जिसके बिना समाज दुर्बल और क्षीण हो जाता है, और उसमें ताज़ा रक्त न रहने से सुख-सामग्री भी विषाद में परिणत हो जाती है।

अवधी की सामर्थ्य और समृद्धि †

अवधी, हिन्दी की प्रादेशिक बोलियो में प्रमुख स्थान रखती है। इसका उद्गम अर्द्धमागधी प्राकृत और उसके अपभ्रंश से है और अवधी शब्द भी अर्द्धमागधी से निकला हुआ शब्द है। आजकल इसका सबन्ध अवध प्रदेश से है। सामान्यतया समस्त अवध प्रदेश में बोली जानेवाली भाषा अवधी कही जाती है। यदि हम पूर्वी और पश्चिमी, हिन्दी भाषा की दो शाखाओ के अंतर्गत आनेवाली, प्रादेशिक बोलियो—अर्थात् अवधी, भोजपुरी बघेलखंडी (पूर्वी बोली) और खडी बोली, बाँगरू, व्रज, कन्नौजी और बुन्देली को पश्चिमी हिन्दी के अतर्गत लें, तो हम यह कह सकते है कि अवधी का क्षेत्र सब से व्यापक है। अवध प्रान्त के अतर्गत, हरदोई को छोड़कर लगभग समस्त जनपदो, और विशेष रूप से लखनऊ, उन्नाव, सीतापुर, बाराबकी, रायबरेली, गोडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ, फैजाबाद, लखीमपुर-खीरी आदि में बोली जाने वाली भाषा अवधी ही है। इसके अतिरिक्त गगा के दक्षिणीय जनपदो के कुछ भाग जैसे इलाहाबाद, मिर्जापुर, जौनपुर, फतेहपुर आदि की कुछ तहसीलो में भी अवधी ही बोली जाती है। इतना ही नही, बिहार के रहनेवाले कुछ मुसलमान और कलकत्ता, बम्बई आदि बड़े-बडे शहरो में जाकर बसनेवाले इस प्रदेश के लोग भी अवधी ही बोलते है। जिस प्रकार बगालियो के सबन्ध में सत्य है कि दो बगाली जहाँ मिलेंगे, वे अन्य किसी भाषा में बात न करके बगाली में ही बात करेंगे, उसी प्रकार मातृभाषा के रूप में अवधी को ग्रहण करनेवाले लोग भी परस्पर वार्तालाप अवधी में ही करने के लिए प्रसिद्ध है। इसका कारण यही है कि एक बगाली को जिस प्रकार अपनी बोली का गर्व है, उसी प्रकार एक अवधी-भाषी को भी अपनी भाषा का। और इसमें सदेह नही कि अवधी भाषा की भाव-

---

† हिन्दी सभा, सीतापुर के सौजन्य से, जहाँ यह निबध सन् ५० की अवधी परिषद् में पढ़ा गया था।

प्रकाशन की सामर्थ्य बडी तगडी है। व्रजभाषा, अधिक मधुर होने के कारण दैनिक व्यवहार के लिए उतनी सक्षम और उपयुक्त नही जितनी अवधी। उसकी तो कविता, कला, और नारी-भावना की अभिव्यक्ति में ही विशेष शोभा है। और यह उसकी कोमल मधुराई की अपनी विशेषता है, हीनता नही।

यहाँ पर मेरा तात्पर्य यह सिद्ध करना नही कि अवधी, हिन्दी की समस्त भाषाओ या बोलियो में बढकर है या इसमें जो कुछ गुण या विशेषताएँ है, उनके समकक्ष अन्य बोलियो में गुण या विशेषताएँ नही। वरन् मेरा उद्देश्य यह दिखाना है कि अवधी का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व, जिन बातो, अंगो और पक्षो को लेकर बना है वह अपनी विशेषताएँ रखते है और अन्य बोलियो का वह पक्ष तुलनात्मक दृष्टि से अवधी से घटकर है। किन्तु इसके साथ ही साथ मैं यह मानने को तैयार हूँ कि अन्य बोलियो के ऐसे पक्ष भी हो सकते है और है, जिनमें अवधी क्षीण है और वे उस विशिष्ट बोली के व्यक्तित्व को पुष्ट करनेवाली बातें है। अपनी इस बातको और स्पष्ट करने के लिए मैं एक घटना का उल्लेख करना चाहूँगा, जो अवधी के क्षेत्र के बाहर घटी और जिससे अवधी के संबन्ध में उस क्षेत्र के व्यक्ति की धारणा स्पष्ट हो जाती है। जिस समय मै साहित्यिक खोज के सबन्ध में टीकमगढ, में स्थित ओरछा राज-पुस्तकालय में हस्तलिखित ग्रंथो की छानबीन कर रहा था, उस समय ओरछा राज के एक सम्मान्य एव उच्च पदाधिकारी मेरे मित्र ने मुझसे पूछा— "आपकी राय में हिन्दी के भीतर कौन सी भाषा सब से अच्छी है?" मैने कहा—"किस विचार से?" उन्होने पूछा—"प्रत्येक दृष्टि मे कौन सब से बढ कर है; मैंने उत्तर दिया—मै इस सबन्ध में आपके निष्कर्ष जानना चाहता हूँ?" वैसे तो अपनी अपनी भाषा को सभी अच्छा समझते ही है, और मैं भी इस दुर्बलता से मुक्त नही हूँ।" इस पर उन्होने कहा—"मेरी राय में तो व्रजभाषा जनानी भाषा है और अवधी अक्खड और गँवारू, बताइये आप का क्या मत है?"

मैंने उत्तर दिया—"मै आपके विशेषणो में गुणो का दुराव और दोषो का अत्यधिक बढाव देख रहा हूँ। आप जिसे अक्खडता कहते है मै उसे उसकी समर्थता मानता हूँ, अस्तु, ऐसी दशा में आप संभवत न तो गँवारू होना चाहेंगे न जनानापन पसन्द करेंगे, तो फिर कौन भाषा उपयुक्त हुई?" इस पर उन्होने अपना निष्कर्ष बताया कि हमारी बुन्देलखडी भाषा में दोनो का समन्वय है। और वाद-विवाद काफी दूर तक बढा किन्तु उसकी यहाँ आवश्यकता नही। मुझे अभी तक किसी अवधी-भाषी-द्वारा व्रजभाषा के सबन्ध में और व्र-

भाषी-द्वारा अवधी के संबन्ध में इस प्रकार की बातें सुनने का सुयोग प्राप्त नहीं हुआ। किन्तु मुझे यही लगा कि उन बुन्देलखण्डी महाशय ने 'अवधी' की व्याज-स्तुति की। और मैंने यही निष्कर्ष निकाला कि अवधी में व्रज की तुलना में माधुर्य और लोच की कमी है किन्तु यह ओज, पुरुषार्थ और सामर्थ्यपूर्ण भाषा है। भाव को सीधे और प्रभावपूर्ण ढंग से प्रकाशित करना अवधी की अपनी विशेषता है।

व्रज भाषा के जनानेपन के सबन्ध में तो यही कहा जा सकता है कि भाव और व्यवहार दोनो ही क्षेत्रो में व्रजभाषा कोमल और मधुर भावनाओ की ही अभिव्यजना कर सकती है, सभी भावनाओ की नहीं और इस दृष्टि से सीमित है। तुलसी को भी व्यापक भावनाओ के प्रकाशन में अवधी का ही प्रयोग करना पड़ा। हाँ यह अवश्य है कि मधुर और कोमल अभिव्यक्ति के लिए व्रजभाषा सर्वोपरि है। यद्यपि मै अपने बुन्देली मित्र के द्वारा प्रयुक्त विशेषण से सहमत नही हूँ, फिर भी अभी हाल में ही एक प्रसग में मुझे उनके कथन का वडे ही प्रभावपूर्ण रूप में स्मरण हुआ। प्रान्तीय रक्षकदल की परेड हो रही थी। उनमें से एक दल 'धौलपुर' भरतपुर के समीपवर्ती व्रज-प्रदेश का था। उसके वन्दूको के निरीक्षण-सबन्धी निर्देश या काशन के बड़े मनोरंजक शब्द थे। निर्देशक के शब्द थे—"तुपकिया दिखावने है—नेक तुपकिया दिखाय तो दीजो—।" इन शब्दो को सुनकर अपने मित्र की आलोचना के प्रकाश में मुझे बड़ी हँसी आई।

अवधी के भीतर व्रज का माधुर्य नही, पर व्यावहारिक भावो को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य इसमें अपूर्व है। माधुर्य में भी अवधी, हीन नही है, व्रजभाषा के समकक्ष चाहे भले ही न हो। अवधी की कोमलता और मधुरता उसके विशिष्ट छन्दो और जनगीतो में प्रकट हुई है। अवधी का विशिष्ट और अपना सबसे अनोखा छन्द बरवै है जिसमें भाव, सस्कृति और अनुभूति तथा गति अवधी के लघुतापरक शब्दो से बड़ी सुन्दरता से परिचालित होती है। बरवै छन्द का भाव हृदय के भीतर धँसता चला जाता है। सौन्दर्य और भाव की सूक्ष्माभिव्यक्ति के लिए अवधी का बरवै छन्द अद्वितीय है। इसका प्रयोग जनगीतो में भी होता है। होली के अवसर पर लोग परिक्रमा करते हुए बरवै गाते है। हिन्दी साहित्य के दो शिरोमणि कवि तुलसी और रहीम ने बरवै छन्द की रमणीय छटा दिखलाई है। दो एक बरवै देखिये—

"चम्पक हरवा अँग मिलि, अधिक सोहाय।
जानि परै सिय हियरे, जब कुँभिलाय॥

अब जीवन कै है कपि, आस न कोय।
कनगुरिया कै मुँदरी, कँगना होय ॥
डहकु न है उजियरिया, निसि नहिं घाम।
जगत जरत अस लागै, मोहिं बिनु राम ॥"

ये तुलसी के बरवै थे। रहीम का एक बरवै देखिये —

"भोरहिं होत कोइलिया, बढ़वति ताप।
घरी एक भरि अलिया, रहु चुपचाप ॥"

आधुनिक युग में भी इस छन्द की साधना के प्रयत्न हो रहे हैं। उनमें से दो-एक उदाहरण देना अनुचित न होगा। देखिये —

"उमड़े लाल बदरवा, तकि तकि साँझ।
पछी लेत बसेरवा, कुंजन माँझ ॥
जरि बरि जाय दियरवा, नित बतरात।
सजनी झूठ सगुनवाँ, मोहिं न सोहात ॥"

प्रकृतिचित्रण, भाव का व्यग्य-सकेत और अनुभूति की तीव्रता ऊपर के छन्दो में जैसी है वह अनुभव करते ही बनती है। गदराये आम की भाँति इनके भीतर की माधुरी झाँकती है और रस छलक रहा है।

जनगीतो में अवधी वहुत समृद्ध है। जनगीतो की विविधता, व्यापकता और उपयुक्तता भी अवधी में है और भाषा की सजीवता एवं भाव की गभीरता भी। अवधी में गाये जानेवाले समस्त गीतो और वर्गो का विवरण देना हमारा उद्देश्य नही, केवल कुछ महत्वपूर्ण गीतो की समृद्धि और भावपूर्णता ही स्पष्ट करने का प्रयास यहाँ पर किया जायगा, किन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि समस्त ऋतुओ के प्राकृतिक दृश्यो की पृष्ठभूमि में ऋतु और अवसर के अनुकूल भावो की अवधी में प्रबल अभिव्यक्ति हुई है। जनगीतो की विभिन्न कोटियाँ, ऋतु, उत्सव, त्योहार, सस्कार आदि की विशेष भावधारा के आधार पर की गई है। इनके अतिरिक्त दैनिक जीवन और अनुभूतियो को भी अपनाकर चलनेवाले एक से एक सुन्दर गीत है। ये अनुभूतियाँ अपने नग्न, स्वाभाविक और सजीव रूप में हमारे सामने उपस्थित होकर अन्तरतम तक आन्दोलित कर देती है। इस कथन को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण देना आवश्यक होगा।

एक 'सावन' है, सावन में गाया जानेवाला गीत। अवसर बेटी की विदा का है। बेटी अपने मायके के लोगो में कौन कितना चाहता है, यह व्यक्त

करती है, फिर भी अभिव्यक्ति के सौन्दर्य, संकेत और भाव-गाभीर्य के साथ गति का योग दर्शनीय है। गीत की कुछ पंक्तियां इस प्रकार है—

"सावन सेंदुरा मांग भरी वीरन, चुंदरी रँगायो अनमोल।
माया ने दीन्ह्यो नौ मन सोनवां कि ददुली ने लहर पटोर॥
भैया ने दीन्ह्यो चढन को घोडवा, भौजी मोतिन को हार।
माया के रोये ते नदिया बहत है, ददुली के रोये सागर पार॥
भैया के रोये ते पटुका भिजत है, भौजी के दुइ-दुइ आँस।
सावन सेंदुरा मांग भरी वीरन, चुंदरी रँगायो अनमोल॥"

लोकगीतो में यो तो एक से एक सुदर गीत है, पर अवधी के 'सोहर' छन्द का भाव और व्यग्य कुछ अनूठा ही है। जब कभी लोकगीतो की चर्चा चलती है तो एक 'सोहर' छन्द सदा ही मेरी स्मृति में जग जाता है जिसका सा भाव मैंने आज तक किसी छन्द में नही देखा। वह कहानी भी है, काव्य भी है। छोटा होते हुए भी पूर्ण विस्तृत है। सरल होते हुए भी तीखे सामाजिक व्यंग्य से भरा हुआ है और जो समाप्त होकर भी न जाने कितने समय तक हृदय को झकृत करता रहता है। गीत इस प्रकार है :—

"छापक पेड छिउलिया, तौ पतवन गहवर।
(अरे रामा) तेहितर ठाढी हिरनियाँ, तौ मन-अति अनमन।
चरतै चरत हिरनवाँ तौ हिरनी ते पूँछइ।
की तोर चरहा झुरान कि पानी बिनु मुरझिउ।
नाही मोर चरहा झुराम न पानी बिनु मुरझिउँ॥
आज राजा जी के छट्ठी तुहँहि मारि डरिहै।
मचियै बैठि कौसल्या रानी हिरनी अरज करइ।
रानी मसवा तौ सिझइ रसोइयाँ, खलरिया हमैं देतिउ।
पेडवा ने टगतिउँ खलरिया तौ फेरि फेरि देखितिउँ।
रानी देखि देखि मन समुझइत जानित हिरना जीतइ।
जाउ हिरनी घर अपने खलरिया नाहीं देवइ।
हिरनी खँलरी क खँजरी मढइबै, राम मोर खेलिहै।
... ...
जब जब बाजै खँजरिया, सबद सुनि अनकइ।
हिरनी ठाढि ढकुलवा के नीचे हिरन क बिसूरइ॥'

गीत का भाव स्पष्ट है, किन्तु व्यग्य कितना गहरा है। हमारे समाज में शासक और अधिकारी लोग, विवश, दीन-हीन, भोले प्राणियो पर अपने

स्वार्थवश कितना अत्याचार करते है। अपने-सुख के आगे, अपनी क्रीड़ा और खेल के सम्मुख, दूसरो के सुख की हत्या और प्राणो का नाश करना, उनके लिए साधारण बात है। ऐसे ही लोगो को लक्ष्य करके यह गीत लिखा गया है। इसके रचयिता के भीतर 'मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीसमा' के रचयिता आदि कवि से कम भावोद्रेक नही। पर आज उसे कौन जानता है? इन जनगीतो के वाल्मीकि के नाम तक हम नही जानते। इस काव्य में वाल्मीकि-द्वारा प्रतिष्ठित 'राम' की आदर्शमाता की भी आलोचना है और इस प्रकार राजतन्त्र के विरोध में एक दर्दभरी, क्षीण किन्तु शाश्वत् आवाज है जो युग-युग तक सदेशा देती रहने का दावा कर सकती है। इस प्रकार इन गीतो में न जाने कितने वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, सूर और तुलसी के व्यक्तित्व छिपे पडे है जो अपनी अमर वाणी देकर सदा के लिए लुप्त हो गये।

अवधी के एक गीत में चित्रित स्त्री का सौन्दर्य देखिये :—

"वै धना पान ऐसी पतरी, कुसुम ऐसी सुन्दरि हो।
रामा मुँदरी वरन करिहइयाँ, चन्दा ऐसी चमकइँ हो॥"

ये गीत न जाने किस युग में बने। आज हमारी प्राचीन सपत्ति ही इन गीतो की इतनी काफी है कि नवीन गीतो की रचना की आवश्यकता नही जान पडती। फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि वह कवित्वशक्ति अब नही रह गई। इसका कारण बदली हुई परिस्थितियाँ ही कही जा सकती है। किन्तु हमारे जनकवि इन परिस्थितियो के प्रभाव के भी सवेदनशील है इस आधुनिक कवित्वहीनता और प्रेमभाव-विहीन नीरस जीवन का कारण बता हुआ हमारा लोककवि कहता है :—

"भुखिया के कारन बिरहा बिसरिगा, भूलि गई कजरी कबीर।
देखि कै गोरी की मोहनी सुरतिया, उठै ना करेजवा माँ पीर॥"

इस प्रकार प्रत्यक्ष है कि हमारी आर्थिक समस्याओ ने हमारे हृदय को इतना नीरस एव कठोर और मन को इतना कल्पनाहीन और निरुत्साही बना दिया है कि हम भाव-क्षेत्र के भीतर प्रवेश करने का अवसर तक नही पाते।

अवधी के जनगीतो की समृद्धि स्पष्ट हो नही सकती यदि, बिरहा, झूमर, कजरी और चैती का उल्लेख न किया जाय। इनमें से प्रथम तीन से तो हम भली भाँति परिचित है, किन्तु चैती के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि यह चैत अर्थात् ठेठ वसन्त का गीत है। फाग, झूमर आदि तो फागुन में गाये जाते है, जब वसन्त की शैशव अथवा किशोरावस्था होती है, किन्तु

चैती वसन्त की प्रौढावस्था का गीत है अत. इनमें विशेष मादकता-भरी रहती है, जो ऋतु के प्रभाव को प्रकट करती है। चैती बुदेलखडी में भी है, किन्तु उतनी महत्व की नही जितनी अवधी में। इन्हें, चैतावर, चैता, घाँटो आदि भी भोजपुरी और पूर्वी बोलियो में कहते है। अधिकाश चैतियो में प्रेम और विरह के ही चित्रण है। एक चैती के शब्द उदाहरणार्थ दे देना अनुपयुक्त न होगा। मधुऋतु के मादक वातावरण में इनकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक ही है :—

"नइ भेजे पतिया।
आयेउ चइत उतपतिया—नइ भेजे पतिया।
विरही कोइलिया सबद सुनावे।
कल न परत अब रतिया—नइ भेजे पतिया॥
बेला चमेली फूले बगिया मे।
जोबन फूल्यो मोरी अँगिया—नइ भेजे पतिया॥
आयेउ चइत उतपतिया—नइ भेजे पतिया।

इस प्रकार सक्षेप में अवधी के लोक गीतो की समृद्धि का सकेत किया गया है। अवधी के भीतर वास्तव में तीन उपप्रदेशो की बोलियाँ है, जो मिल कर अवधी का सघटन करती है पूर्वी अवध की पूर्वी, पश्चिमी अवध की पछाँही अवधी जो खीरी लखीमपुर, सीतापुर, बाराबकी, लखनऊ आदि की बोली है और बैसवाड़ा (उन्नाव-रायबरेली) की बैसवाड़ी। तीनो के ही लोकगीत मिल कर अवधी का भडार भरते है।*

लोकगीतो के अतिरिक्त लोकवार्ता, लोकोक्ति, आख्यान, नीति, उपदेश और प्रबन्ध-काव्य में भी अवधी खूब समृद्ध है। मुस्लिम कवियो कुतबन,

---

*आज हमें हिन्दी की बोलियो में प्रमुख व्यक्तित्व रखनेवाली खड़ी बोली ब्रज और अवधी ही जान पड़ती है। खड़ी बोली पश्चिमी हिन्दी के भीतर होती हुई भी ब्रज से अलग है। जब कि अवधी के भीतर की बोलियो का अवधी से नितान्त भिन्न व्यक्तित्व अभी स्पष्ट नहीं हुआ। इस प्रकार अवधी का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। (भोजपुरी विशेषज्ञ डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार) खड़ी बोली बोलनेवालो की सख्या ५३ लाख, ब्रजभाषा बोलने-वालो की ७६ लाख और अवधी बोलनेवालों की सख्या डेढ करोड़ के लगभग है। अत अवधी व्यापकता की स्वत सिद्ध है।

मझन, जायसी, आदि के प्रेमाख्यान हिन्दी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते है, इसमें किसी को सदेह नही। साथ ही साथ उनके भीतर आध्यात्मिक और लौकिक प्रेम का बडा ही रोचक और रहस्यपूर्ण सम्मिश्रण भी है। इस प्रकार के प्रेमाख्यान सभी के सभी अवधी में ही है। इनके अतिरिक्त निर्गुण सप्रदाय के भीतर सतनामियो, शिवनारायणी आदि सप्रदायो के कवियो जगजीवन- मलूकदास, पल्टू आदि की ज्ञान भरी वाणियों में भी अवधी भाषा ही मुखर हुई है।

सबसे विलक्षण और अद्वितीय देन अवधी के प्रबन्ध काव्यो की है। हिन्दी साहित्य को सर्वश्रेष्ठ दो महाकाव्यो की भेंट करनेवाली अवधी ही है। रामचरितमानस और पद्मावत के अतिरिक्त अन्य प्रबन्ध भी यह ही सिद्ध करते है कि हिन्दी की अन्य बोलियो की अपेक्षा इसमें प्रबन्ध-शक्ति अधिक है। आधुनिक युग का महाकाव्य 'कृष्णायन' भी इसका प्रमाण है। दो सर्वश्रेष्ठ महाकवियो को उत्पन्न कर अवधी महाकवियो की मातृ-भाषा बनी हुई है।

आज भी अवधी का अपना व्यक्तित्व है। लखनऊ रेडियो द्वारा प्रसारित (अवधी में) पचायतघर का कार्यक्रम, अन्य सभी प्रादेशिक बलियो के कार्यक्रमो की अपेक्षा अधिक सजीव रहता है, यह अवधी भाषा की सामर्थ्य, अवध निवासियो की प्रतिभा और सहयोग तथा अवधी साहित्य और सस्कृति की उर्वरता और समृद्धि का ही सुपरिणाम है।

आज भी अवधी में लिखनेवाले कवियो का अभाव नही। वरन् कुछ तो अपनी व्यक्तिगत विशेषता रखते है, वशीधर और आधुनिक 'भूषण' के नाम उल्लेखनीय है। इस प्रकार अवधी जो परम्परा से अपने साहित्य, जनगीत, लोकवार्ता, आदि के कारण सम्मानित रही है आज भी प्रगतिवान् है। वह हमारा आह्वान करती है कि आओ और अपनी समर्थ मातृभाषा को लज्जित न करो। अवधी की सामर्थ्य और समृद्धि हमारे लिए गौरव की वस्तु है। हमें आशा है कि अवधी-प्रेमी साहित्यिक और अवधी-भाषी सज्जन अपनी मातृभाषा को पूर्ण गतिशील बनाने में तन-मन-धन से भरसक प्रयत्न करेंगे।

लोक-साहित्य में दाम्पत्य-जीवन*

हमारा लोक-साहित्य सस्कृति और सामाजिक जीवन की दृष्टि से अति समृद्ध है। इसके अन्तर्गत हमारे लोक-जीवन के विविध विश्वास, क्रिया-कलाप, धारणाएँ, भावनाए, अनुभूतियाँ, आशा-निराशा, सुख और दुख की मार्मिक अभिव्यञ्जना मिलती है। लोक-साहित्य और विशेषकर लोकगीतो के भीतर जितना अधिक नारी-भावनाओ का प्रकाशन है, उतना पुरुष भावनाओ का नही और इस दृष्टि से कला-साहित्य और लोक-साहित्य में अन्तर है। कला-साहित्य प्राय पुरुषो की सृष्टि होने के कारण उसके भीतर नारी जाति की वास्तविक भावनाओ का उतना सच्चा चित्र नही जितना लोकगीतो में, क्योकि इन गीतो को निर्मित और मुखरित करने का श्रेय अधिकांश में नारी-जाति को ही है।

नारी-भावनाओ के भीतर प्रमुखत मातृत्व, भगिनीत्व और दाम्पत्य के भाव हैं। मातृत्व की भावना लोक साहित्य में अत्यन्त रूढ है। अनेक कथा-कहानियो में इस प्रकार के प्रसग हैं जिनमें निपूती रानी का मुख देखने पर छोटे से छोटे व्यक्ति को भी आपत्ति है और गीतो में सोहर तो मातृत्व के ही गौरवपूर्ण भाव से ओत-प्रोत हैं। मातृत्व-बिना भारतीय दृष्टि से, नारीत्व पूर्ण नही, अत इस भावना का लोक-साहित्य में बड़ा आदर है। दाम्पत्य जीवन के चित्र लोक-साहित्य के भीतर मातृत्व की स्थिति के पूर्व के ही हैं। वरन् हम कह सकते हैं भाई की ओर का भाव इसी स्थिति में एक साथ भगिनीत्व का और पति की ओर पत्नीत्व का भाव है। दाम्पत्य-जीवन के चित्रो मे लोक-साहित्य में नारी-जीवन से सम्बन्धित चित्र ही अधिक रोचक और महत्व के हैं।

कथा-कहानियो में दाम्पत्य-जीवन के भीतर सपत्नी या सौत का चित्रण विशेष मिलता है जिसमें इस बात का उल्लेख है कि अधिक सुन्दर, सुशील अथवा पुत्रवान् होने के कारण सौतो को डाह होती है और वे उसको अनेक प्रकार के कष्ट देती हैं, किन्तु अन्त में वास्तविकता स्पष्ट होने पर उन्हें

---

* आल इंडिया रेडियो, लखनऊ के सौजन्य से।

वास्तविक दड मिलता है। कहानियों में अधिक मधुर और प्रेमपूर्ण भावनाओ का चित्रण इस कारण नही हो पाया क्योकि कहानियाँ बच्चो को सुनाने के लिए ही प्राय: गढी गई है, किन्तु गीत जिन्हें युवक अथवा युवतियाँ अपनी समवयस्काओ के साथ गाती है, दाम्पत्य-जीवन की मधुर सुखद, आशापूर्ण और करुण-भावनाओ से ओत-प्रोत है।

लोक-गीतो में दाम्पत्य-जीवन अपने विविध रूपो मे प्रवाहित हुआ है। कही पति-पत्नी के मिलन की आशा, उत्कण्ठा और तन्मयना के दर्शन होते है तो कही वियोग की पीडा, निराशा, खीझ और उपालभ है; कही पंसा-सारी खेलने का चित्रण है तो कही प्रिय के पास सदेशा भेजने का। इस प्रकार सयोग और वियोग दोनो पक्षो के मधुर और कठोर कूलो के बीच दाम्पत्य-जीवन बहता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

सयोग और वियोग दोनो के विविध रूप है। वियोग की अवस्था के विविध रूपो का दाम्पत्य-जीवन में अधिक प्रकाशन हुआ है, क्योकि सयोग की तन्मयता के समय प्रकाशन की अपेक्षा बहुत कम ही रहती है। लम्बे बिछोह के बाद मिलन कितना सुखदायी है और इस मिलन-अवस्था में कोई भी बात जो कि व्यवधान या बाधा डालती है वह असह्य है। एक गीत में यह भाव देखिये —

"जो मैं जनतिउँ ये लवंगरि एतनी मँहकविउ।
लवँगरि रँगतिउँ छयलवा क पाग सहरवा म गमकत ॥
अरे-अरे कारी बदरिया तुहँइ मोरि बादरि।
बादरि! जाइ बरसउ वहि देस जहाँ पिय छाये ॥
बाय बहइ पुरवइआ त पछुआँ झकोरइ।
बहिनि दिहेउ कँवड़िया ओड़काइ सोवउँ सुख, नींदरि ॥
कि तुइ कुकुरा बिलरिया सहर सब सोवइ।
कि तुइ ससुर पहरुआ किवड़िया भड़कावइ ॥
ना हम कुकुर बिलरिया न ससुर पहरिया ॥
धना हम आहि तोहरा नयकवा बदरिया बोलायेसि।
आधी राति बीति गइ बतियाँ नियाई राति चितियाँ।
बारह बरस का सनेह जोरत मुर्गा बोलइ ॥
तोरवेउँ मैं मुरगा का ठोर गटइया मरोरवेउँ।
मुरगा काहे किहेउ भिनुसार त पियेह बतायउ ॥

काहे क ये रानी तोरविउ-ओर, गडइया मरोरविउ ।
रानी होइगै धरमवाँ क जून ओर होत बोलेउँ ॥"

इस गीत में संयोग-सुख की तन्मयता के साथ-साथ, अपने सतीत्व की रक्षा के सम्बन्ध में सतर्कता और धर्म के सम्बन्ध में व्यक्तिगत-सुख या सुविधा के त्याग के भाव भी बड़ी सुन्दर रीति से व्यक्त हुए हैं। धर्म का संकेत पशु-पक्षियो तक से पाकर भारतीय दम्पति उसके पालन में अपने सुख का त्याग कर सकते है।

दाम्पत्य-जीवन के चित्रण में सतीत्व की रक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले गीत बहुसंख्यक हैं, जिनमें अपने प्रेम की दृढता अथवा त्याग और चतुराई के द्वारा स्त्री ने अपने पतिप्रेम और सतीत्व की रक्षा की है। एक गीत का भाव यह है कि बाँस की डलिया में ननद-भौजाई छोट-छोटे गहूँ पीस रही है। बाहर से देवर को आया देखकर भौजाई ने पूछा कि देवर! रोज तो तुम दोनो भाई साथ आते थे, आज अकेले कैसे आये हो ? तुम्हारी जूती कैसे भीगी है और तुम्हारी तलवार में रक्त कैसे लगा है ? देवर ने उत्तर दिया—हे भौजाई! ओस से मेरी जूती भीगी है और हिरनी के शिकार में मेरी तलवार भीग गई है। स्त्री सारा भेद जान गई और बोली—हे देवर! सच-सच बता क्यो नही देते ? मै तुम्हें छोड़कर दूसरे के पास नही जाऊँगी। अपने बड़े भाई को तुमने कहाँ मारा, कहाँ फेंका और कहाँ की चील उनके ऊपर मँडरा रही है ? देवर ने बता दिया कि मैने ऊँचे पर मारा और नीचे ढकेल दिया और आकाश की चील उनके ऊपर मँडरा रही है। वन में चन्दन की लकडी बटोर कर मैंने चिता तैयार की है। भौजाई ने कहा—हे देवर! जाओ आग ले आओ, मै अपने हाथ से स्वामी को आग दूँगी। देवर आग लेने चला गया। इधर स्वामी की लाश के पास खड़ी होकर पत्नी विनय करने लगी—हे प्राणनाथ! जो तुम मेरे सच्चे पति और मै पतिव्रता होऊँ तो तुम मेरे अचल से आग लेकर उठो। आँचल से आग भभक उठी। सती नारी भस्म हो गई। देवर दोनो हाथ मलने लगा और बोला—हे भौजी जो मै यह जानता कि तुम छल करोगी तो मै अपना सगा भाई क्यो मारता ? यहाँ पर दाम्पत्य-प्रेम की अनन्यता का असीम त्याग के साथ चित्रण किया गया है। दाम्पत्य-जीवन के सम्बन्ध की यह पवित्र धारणा भारतीय जीवन की अपनी विशेषता है।

ऐसे भी गीत सुनने को मिलते है जिनमें कि पति के लम्बे प्रवास काल के उपरान्त विदेश से आने पर, यदि स्त्री मानवश सामने न हुई और चाहा कि पति स्वय उससे आकर मिले और वह उलाहना दे तो उसकी सास या ननद

स्त्री के विरुद्ध अभियोग लगाकर उसके पातिव्रत पर सदेह उत्पन्न करा देती है, फल स्वरूप उसकी परीक्षा ली जाती है, गगा की शपथ, सूर्य की शपथ ली जाती है। किन्तु भरी गगरी सूख गई, सूर्य छिप गया और जलती तेल की कड़ाही ठढी हो गई। इन शपथो के अवसर पर भाई भी उपस्थित था। एक ऐसे गीत की कुछ पक्तियाँ देखिये :—

"बरि गई अगिया औ भभकी करहिया, बहिनी खड़ी किरिया देय हो राम।
हे मोर सूरज हमार प्रति राखउ जो हम, होई सतवन्ती हो सम।
जब बहिनी चली है गंगा की किरियवा, तब भरी गगरी भुराय!
जब बहिनी चली है सूरज की किरियवा, उवे सूरज गये है छिपाय।
जब बहिनी गई है अगिनि की किरिया, खौलत तेल भा पानी जूड़!"

इस प्रकार स्त्री को पूर्ण सती-साध्वी रूप में देखना, पति के केवल अधिकार का ही द्योतक नही, वरन् उस प्रेम का द्योतक है जो स्त्री के प्रति है और जो दूसरे के प्रति उसके प्रेम को सह नही सकता। यह स्वाभाविक है किन्तु इसके साथ निर्दयतायुक्त परीक्षा, व्यर्थ के सदेह आदि परिस्थितिवश आ गये है। किन्तु प्रेम की अनन्यता की भावना दाम्पत्य-जीवन का मूल है। दाम्पत्य-भाव की उपासना के अन्तर्गत कबीर की एक साखी इस भाव से ओत-प्रोत है :—

"नैणाँ भीतर आव तू, नैन झाँपि तोहि लेउँ।
ना मैं देखौं और को, ना तोहि देखन देउँ॥"

स्त्री और पुरुष दोनो की ही यही भावना रहती है। दोनो एक दूसरे के प्रेम का एकाधिकार चाहते है और यह दाम्पत्य-जीवन में ही सभव हो सकता है, जहाँ प्रिय और प्रेमी रोज बदलते रहते है वहाँ यह अनन्य भाव नही मिल सकता। या हम यह भी कह सकते है कि इसी अनन्य प्रेम की कमी के कारण ही बदलाव की आवश्यकता रहती है। लोकगीतो में ऐसे गीत प्रायः सुनने को मिलते है जिनमें पारस्परिक प्रेमभाव का वर्णन है। एक इसी प्रकार के भाव का गीत है प्रकृति की पृष्ठभूमि में, प्रेम का सदेशा, स्त्री के प्रेम और संदेशवाहक भौंरे का स्वागत स्त्री और पुरुष दोनो के प्रेम का द्योतक है। सुनिये —

"कौन फूल फूलेला घरी रे पहरवा।
कौन फूल फूले आधी रात॥
अड़उल फूल फूले घरी रे पहरवा, चम्पा फूल फूले आधी रात।
त भौंरा लुभाई

तोकों देबी भौंरा दूध भात खोरवा
कि प्रिया आगे खबरि जनाउ ।।
उडत उड़त भौंरा गा वहि देसवा ।
कि बैठ जाय पिय जी के पाग ।
पगिया ते उतारि भौंरा जंघा बैठारिन, पूंछै लागे धन कुसलात ।
तोरी धना परदेसी बेदने बेग्राकुल, पठेएन्हि मोहि ते सनेस ।
त फागुन ग्राई ।"

स्त्री का प्रेम पति के प्रति है, ऐसी दशा में वह पति के अपमान और निरादर को नही सह सकती, चाहे वह उसके भाई या पिता द्वारा ही क्यो न हो। एक गीत में भाव है कि पिछवारे लौग की बगिया है और लौंग आधी रात को फूलती है। प्यारा पति उसी में उतरा है और लवँग के फूल तोड रहा है। भीतर से बेटी का भाई निकला जिसके हाथ में धनुष और मुँह में पान था और कहता है कि तुम मेरे द्वार कैसे आये और लवँग के फूल कैसे तोड़ रहे हो ? यह जान कर कि भाई ने पहिचाना नही,बेटी जिसके हाथ में गजरा और मुँह में पान है भीतर से कहती है कि भाई अपने वहनोई को न डाँटो मै तुम्हारे फूलो को बटोर दूँगी। गीत के बोल ये है :—

"मोरे पिछवारे लवांगिया के बगिया लवँगा फूलै आधी रात ।
तेहितर उतरे हैं दुलहा दुलरुवा, तोरहिं लवँगवा के फूल ।।
भितरा ते निसरे हैं बेटी के भैया हाथे धनुष मुख पान ।
कस तुह आये मोरे दरवजवा तोरहु लवँगवा के फूल ।।
भितरा ते बोली बेटी छुलाछनि हथवा गजरा मुख पान ।
जनि भैया डाटौं आपन बहनोइया फुलवा मैं देहौं बटोरि ।"

इससे भाई के अपरिचित होने और वहिन के अटूट प्रम का प्रकाशन होता है। पति बहुत दिनो में आया है, एक कारण अपरिचित होने का यह हो सकता है। किन्तु एक दूसरी यह बात भी ध्वनित होती है कि बेटी की इच्छा से वह विवाह करने आया है, बेटी उससे विवाह करना चाहती है, यह पहले किसी को नही मालूम। अत सभी लोगो से बगिया और सुकुमारी बहिन की रक्षा करना भाई का काम है। उसके हाथ का धनुष इसी का द्योतक है। किन्तु बेटी उसका वरण कर चुकी है, हाथ का गजरा इसी बात को प्रकट करता है। इस प्रकार ऊपर का गीत बडा ही संकेत और व्यंग्य-भरा है। स्वाभाविक गहरे संकेत ही तो लोकगीतो की रमणीयता के रहस्य है।

दाम्पत्य-जीवन के साथ-साथ गभीर उत्तरदायित्व, व्यावहारिकता, और त्याग तीनो बातो की आवश्यकता रहती है अन्यथा प्रेम केवल प्रदर्शन है। इसमें उच्छृ खलता और चाञ्चल्य का उतना स्थान नही जितना गहरी हार्दिकता का जिससे कि एक का भाव दूसरा बिना कहे समझ ले। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसी गभीर दाम्पत्य-प्रेम की ओर सकेत करते हुए ही कवितावली में कहा है —

"तुलसी रघुवीर प्रिया श्रम जानिकै बैठि विलम्ब लौं कंटक काढ़े।
जानकीनाह को नेह लख्यौ पुलक्यौ तनु वारि विलोचन बाढ़े॥"

प्रिया के श्रम को समझ कर राम देर तक काँटे निकालते रहते है जिससे उन्हें सुस्ताने का मौका मिल जाय और इस प्रकार प्रेम की हृदयस्थ किन्तु अप्रकट भावना को समझ कर जानकी पुलकित हो जाती है। यह दाम्पत्य-प्रेम का आदर्श है। एक गीत में पति, स्त्री को अकेली छोड कर गगा नहाने जाना चाहता है, स्त्री इस विछोह को नही सक सकती, साथ ही व्यग्य रूप से सकेत भी करती है कि धर्म या लोक का कोई भी कार्य क्यो न हो, स्त्री को छोडकर करना उचित नही। साथ ही घर रहकर वास्तविक सेवा-धर्म की शिक्षा का भी उज्ज्वल भाव प्रकट किया गया है। देखिये एक बुदेली के ब्याह-गीत में यही भाव है .—

"पान काटि कै भाजी बनावौ लौंगन देउ बघारि।
अच्छे-अच्छे जेवना बनाव मोरी कामिनि! हम जायँ गगा नहान॥
काको तौ सौंपौं अनधन सोनवा काको नौरग बाग।
काको सौंपउ हमै अस धनियाँ की तुम चले गंगा नहान॥
बावा का सौंपै अनधन सोनवा तौ भैया का नौरंग बाग।
माया क सौंपै तोहि अस धनिया तौ हम चले गंगा नहाय॥
घरही माँ कुइयाँ खोदाव मोरे सइयाँ घरही मा गगा नहाव।
माता-पिता की धोतिया पखारौ उनहीं म गंगा तुमारि॥"

यहाँ पर प्रत्यक्ष रूप से माता-पिता की सेवा के कर्तव्य की ओर सकेत के द्वारा छोड़कर न जाने का व्यंग्य भाव भी बड़ा महत्वपूर्ण है।

दाम्पत्य-जीवन के वियोग-दशा के गीत बहुत है जिनमें प्राय. भाव यही है कि पति विदेश गया है और दीर्घ काल तक वापस नही आया। स्त्री विरह से व्याकुल है और अपने उद्‌गार प्रकट करती है अथवा किसी से संदेशा भेजती है। सदेशा सुनने और ले जानेवाले काग, भौंरा, कोयल, तोता, पथिक,

ब्राह्मण आदि है। वियोग की भावना से भरा हुआ एक 'पूर्वी' गीत सुनिये—

"हरि मोरि गंले कि देस मधुबन का,
कि सूना भैले रे मोरा सेजा रे भवनवाँ।
सेजिया देखत माँ कि फाटै मोरि छतिया,
कि कहँवा गैलेउ रे मेरे बारे कँ सामिया।
कि कहँवा गैलेउ रे।
वोही मधुवन माँ कि एक रे बभनवाँ,
कि लिखि भेजेउ रे वहि हथवा सनेसवा।
कि लिखि भेजेउ रे।
सोवत रहिलिउँ कि कुस रे गँडरवा,
कि आइ गैले रे मोरे सामी कँ सुरतिया।
कि आइ गैले रे।
चिठिया बाँचत माँ कि फाटै मोर छतिया
कि तजि गैले रे मोरे बारे कँ संघतिया।
कि तजि गैले रे।
हमरे पिछुवरवा एक चनन क पेड़वा,
कि ओहि चढ़ि बोलँ काली रे कोयलिया।
कि ओहि चढ़ि रे।
काहे कहियाँ रोवौ कि काहे जियरा खोवौ,
कि अउले बाटै रे तोहरे ऊधौ अस पडितवा।
कि अउले बाटे रे॥"

वियोग-दशा में सयोग की आशा दिलानेवाली कोयल कितनी धन्य है! वियोग की दशा में दो बातें होती है, पूर्ववर्ती सयोग सुख का स्मरण और दु ख तथा प्रिय के आगमन पर आगामी सुख की आशा। दोनो का ही महत्व है। विषम वियोग-दुःख जिसमें मिलन की आशा न हो, सदेश का उत्तर न मिले, फिर सयोग के दिनो की कल्पना पूर्ण जीवन की साज-सज्जा और आयोजना की अभिलाषा हृदय को थोड़ी देर के लिए आनद और उल्लास से न भर सके, घातक होता है, वह करुणा है वियोग नही। अभी कहे गये पूर्वी में पूर्ववर्ती जीवन के स्मरण का चित्रण है, एक और गीत देखिये जिसमें प्रिय आ जाय तो स्त्री क्या करेगी, इस भाव का चित्रण है। सावन आया है उसी की पृष्ठभूमि में यह सब है, देखिये—

"सावन घन गरजै।
कीधर की घटा ओनई, कीधर बरसै गंभीर।
हमरा ललन, परदेसिया, भीजत हुइहैं कौने देस।
सावन घन गरजै।
खस के बँगला छवउतिउँ, चौमुख रखतिउँ दुवार।
हरि लैकै चढ़तिउँ अटरिया, झोंकवन अवति बयार।
सावन घन गरजै।
अतलस लेहँगा पहिरतिउँ, चुनरी बरनि न जाय।
झमकि कै चढ़तिउँ अटरिया, चौमुख दियना बराय।
सावन घन गरजै।"

ऐसे सात्विक अभिलाषा-पूर्ण दाम्पत्य-जीवन के गीतों को सुनकर मुख से सहसा यही निकलता है कि ईश्वर करे यह अभिलाषा शीघ्र ही पूर्ण हो। दाम्पत्य-जीवन और पति-पत्नी के साहचर्यपूर्ण जीवन का उल्लास कितना मार्मिक है।

जैसा पहले संकेत किया जा चुका है हमारे लोक-साहित्य में दाम्पत्य-जीवन एकांगी और स्वार्थपूर्ण नहीं है, वरन् कर्त्तव्य और धर्मपूर्ण है। जीवन की धारा को दाम्पत्य प्रेम के सम्बन्ध-द्वारा धर्माचार की नाव पर बैठकर कर्णधार पति के द्वारा पार करने की उदात्त, शुभ्र और भोली अभिलाषा नीचे के गीत में प्रकट हुई है—

"धीरे बहो नदिया धीरे बहो। मोरा पिय उतरइ रे पार।
काहे की तोरी नैया रे, काहे की पतवार,
कहाँ तोरा नइया खेवैया रे के धन उतरहि पार।
धरम कै मोरि नइया रे, सत्त कै लगी पतवार।
सैंया मोरी नैया खेवैया रे, हम धन उतरबा पार।
धीरे बहो नदिया धीरे बहो।"

इस प्रकार दाम्पत्य-जीवन को स्निग्ध, शान्त, प्रेमपूर्ण और सफल बनाने के लिए संसार की नदी को धीरे और अक्षुब्ध होने की विनती है। दाम्पत्य जीवन का प्रेम, त्याग और आदर्श, भारतीय जीवन की विशेषता है और भारतीय संस्कृति की रक्षा करनेवाले नैसर्गिक निर्झर की धारा के समान प्रवहमान लोकगीतों में इस दाम्पत्य जीवन का विशद और मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है, इसमें संदेह नहीं।

साहित्यिक अभिरुचि

आजकल जब हम साहित्यिक अभिरुचि पर विचार करने बैठते है तो सहज ही एक प्रश्न सामने उठ खडा होता है कि साहित्य का आजकल के समाज में क्या मूल्य है ? उसकी आवश्यकता हमारे जीवन में क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में हम अनेक लेखो की ओर, जो साहित्य की महत्ता पर लिखे गये है, सकेत कर सकते है, साथ ही इतिहास के ऐसे युगो को बता सकते है जिनका महत्व उस युग के साहित्य पर ही आधारित है। साहित्य-रचना की भी कमी हमारे युग में नही है, फिर भी साहित्य का कोई विशेष प्रभाव हमारे समाज के जनसमुदाय पर दिखाई नही पडता। साहित्य के लिए एक प्रकार की ललक जन-जन में नही जगती। बहुत दिनो तक उससे अछूते रहने पर भी उसके लिए मनुष्य आतुर नही होता। इसका क्या कारण है ? कुछ लोग इसका कारण, आधुनिक कालीन विशिष्ट राजनैतिक, सामाजिक और विशेष रूप से आर्थिक परिस्थितियो के भीतर ढूँढेंगे और किसी सीमा तक ये परिस्थितियाँ कारण रूप है भी, परन्तु जब हम पिछले युगो में साधारण जनो की दीन-हीन दशा के बीच भी साहित्य के प्रति एक ललक पाते है, तब हमें यही कहना पडता है कि इसका यथार्थ कारण साहित्यिक अभिरुचि का अभाव है। युगो से जीती-जागती हमारी साहित्यिक अभिरुचि आजकल कुठित हो गई है।

यहाँ पर साहित्य से मेरा तात्पर्य स्थायी साहित्य से है जिसकी उपयोगिता के विषय में भर्तृहरि ने कहा है—साहित्यसगीतकलाविहीनः। साक्षात्पशु पुच्छविषाणहीन । इस प्रकार के साहित्य के प्रति अभिरुचि का व्यापक अभाव सा होने के कारण, समाज का सवेदनात्मक स्तर धीरे-धीरे गिरता जाता है, उसकी मानसिक वृत्तियाँ पूर्ण रीति से पनप नही पाती और उसका शारीरिक, मानसिक और आत्मिक जीवन अस्वस्थ और अल्प होता जा रहा है।

कहने के लिए आजकल समाचारपत्रो के पढने का चाव बहुत अधिक बढ

रहा है, पर उसकी मूल प्रेरणा जिज्ञासा की तृप्ति मात्र होती है। ज्ञान-भडार बढाने का भी उद्देश्य न होकर, जिज्ञासा को बुझाना-मात्र ही इसका ध्येय रह गया है। जानकारी बढाकर सामुहिक रूप से कार्य करने की क्षमता भी बहुत कम देखने को मिलती है। उसका भी कारण हमारे भीतर समवेदना-समानुभूति का अभाव है, जिसके रहते हमारे भीतर सामुहिक रूप से कार्य-प्रेरणा जाग्रत नही होती। समवेदना को विकसित करनेवाला हमारा 'स्थायी साहित्य' होता है। अत: निष्कर्ष यह निकलता है कि सम्मानपूर्वक स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिए साहित्य-सेवन आवश्यक है। इसके द्वारा हमारे भीतर, एक समान सोचने-समझने की शक्ति उत्पन्न होती है, एक सी अनुभूति का सचार होता है और हमारा सामाजिक जीवन एक सूत्र में बंधकर, अधिक सस्कृत होता जाता है। अत साहित्यिक अभिरुचि को हम जितना ही तीव्र रखते है, हमारा जीवन उतना ही मधुर और आनददायी होता है।

साहित्य या काव्य हमें जीवन-यापन की कला बताता है, जीवन के भीतर का सौन्दर्य खोलकर रख देता है। युगो के सदेश को प्रेय रूप में उपस्थित करके बिना प्रयास बता देता है कि भटकने की आवश्यकता नही, जीवन का मधुर मार्ग यह है। किन्तु हम यह सब भूल सकते है जब कि हमारी साहित्यिक अभिरुचि कुठित हो जाती है। हम जानते है कि जीवन के साथ खिलवाड करने या प्रयोग करने भर को ही समय हमारे एक जीवन में नही है। अत. हम आग की उष्णता और विष की मारणशीलता आग में हाथ डालकर या विषपान करके नहीं सीखेंगे, वरन् परम्परा से आये ज्ञान और अनुभूति को ग्रहण करके सुखद और दुखद के विवेकी बनेंगे। क्या, हम यह साहित्यिक अभिरुचि के विकास के विना कर सकते हैं।

साहित्य-सेवन हमारी अनुभूति का परिष्कार करता है। यही कारण है कि परिष्कृत-अनुभूतिवाले व्यक्ति अनजाने और कभी-कभी अनचाहे ही साहित्यिक बन जाते है। कबीर और निर्गुण सन्तो के अन्तर्गत साहित्यिक बनने की कोई आकाक्षा न थी, पर वे अपनी परिष्कृत अनुभूति के कारण अनचाहे कवि बन बैठे। फिर धनधान्य से समृद्ध होकर और दैनिक चिन्ताओ से मुक्त होकर ही साहित्य का सेवन और सृजन किया जाता है, इसमें भी सत्यता नही। बडे-बडे निर्धनी अकिंचनो ने जो साहित्यिक सृष्टि की है, वह इस बात का प्रमाण है। दैनिक चिन्ताएँ तो जीवन के साथ है, उनके कारण हम जीवन का आनन्द छोड दें, तो बात दूसरी है। साहित्य का सेवन, हमारे दैनिक श्रमशील तथा नीरस जीवन को भी सरस और सानन्द कर सकता है।

हम आज शिक्षा की व्यापकता का दम भरते हैं, पर इसके पूर्व साधारण लोगो के भीतर जो साहित्यिक अभिरुचि थी, वह आजकल हमें ढूंढने से भी नही मिलती। आधुनिक सभ्यता मे अछूते तथा बडे नगरो से दूर, गाँवो में अब भी पुरानी साहित्यिक अभिरुचि से सम्पन्न लोग मिल सकते है, यदि उनके गाँवो में एक भी साहित्यिक, कवि या साहित्य-सेवी निवास करता है, पर इतने बडे साहित्य-भडार के बीच, नगर के लोगो में उस कोटि की साहित्यिक अभिरुचि देखने को नही मिलती। यह कथन देखने में कुछ उलटा सा जान पडता है, पर यदि यथार्थवादी दृष्टि से देखा जाय, तो हम इसके भीतर सत्य पावेंगे।

अब हम इसके दूसरे पक्ष पर विचार करें। हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तो क्या साहित्यिक अभिरुचि, मानव जीवन के लिए कृत्रिम और अस्वभाविक है? और साहित्यिक और कवि-समाज अपनी रचनाओ-द्वारा, कृत्रिम वायुमडल में ही मानव-समाज को रख रहा है? यदि ऐसा है तो सचमुच साहित्य के दिन इने-गिने हैं। पर गभीरता-पूर्वक विचार करने से पता चलता है कि तथ्य इसके विपरीत है। साहित्य के अन्तर्गत, बहुत सी अस्वाभाविकताएँ आईं, सहज-जीवन को कृत्रिम बनाने का प्रयत्न हुआ, पर यह साहित्यविशेष की प्रवृत्ति थी। साहित्यिको या कवियो के विशेष सम्प्रदाय या वर्ग ने उन्हें यह रूप प्रदान किया, अन्यथा काव्य का स्वाभाविक और सहज रूप, कवि और काव्य-सेवी दोनो के लिए ही एक सहजव्यापार है। काव्य का प्रादुर्भाव "मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगम. शाश्वतीसमा "के गायक के सहज, स्वाभाविक और समवेदनापूर्ण उद्‌गार के रूप में हुआ है। साहित्य जहाँ विद्वानो प्रतिभा-सम्पन्नो, साधको, अभ्यासशीलो की सम्पत्ति बना, वही उसका दूसरा रूप जो लोक-गीतो, जन साहित्य, आदि के रूप में मिलता है, वह स्वाभाविक उद्‌गार के रूप मे ही है। अतः साहित्य, रचयिता के दृष्टिकोण से एक स्वाभाविक क्रिया है, कृत्रिम नही। इन स्वाभाविक उद्‌गारो के द्वारा जन सामान्य के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, करुणा-दया, उत्साह-भय, क्रोध-घृणा, विलास-त्याग आदि के सहज भाव अभिव्यक्त होते हैं। ऐसी दशा में जब तक मानव इन भावनाओ से सयुक्त है, तब तक इस प्रकार के उद्‌गारो में सभी को आनन्द मिलेगा।

साहित्य-सेवन भी मानव जाति के लिए उतना ही स्वाभाविक है जितना साहित्य-सृजन। साहित्य या काव्य की रचना एक स्वाभाविक क्रिया है, यह एक और बात से सिद्ध है। ससार के सभी साहित्यकार शास्त्र-पारगत,

शिक्षित और विद्वान् पुरुष ही नही हुए, वरन् अशिक्षित, अनभिज्ञ लोगो के अपनी तीव्रानुभूति के सहज-उद्‌गार भी काव्य का रूप धारण कर चुके है। लोक-गीतो मे एक से एक सुन्दर भाव वाले गीत है ; कुछ तो ऐसे है जिनके समान पूर्ण प्रभावोत्पादक, कोई भी अकेला पद आज तक मुझे प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थो मे नही मिला। ये गीत सहज-रीति से अकुरित हुए है। झरनो के कलकल और पक्षियो के मनोहारी कलरव के समान ही मानव-कण्ठो से फूट निकले हुए ये कल-गान, गीतो, काव्य और साहित्य की स्वाभाविकता को प्रमाणित करते है। हम तूलिका से चित्रपटो पर विभिन्न रग भरकर विचित्र चित्र वनाते है, पर विचित्र, किन्तु सहज रगो को लेकर नित्य, गुलाव, चम्पा, कचनार, बंधुक, शेफाली आदि फूल भी खिलते है जो इन दो प्रकार के रगो का सम्वन्ध है वही कृत्रिम और सहज काव्य का है। किसी की रोचकता और महत्व कम नही ; वरन् दोनो मानव-जीवन के दो रूपो को स्पष्ट करते है। अत. यह निर्विवाद सत्य है कि काव्य की रचना और काव्य का सेवन मानव समाज के जोवन के लिए आवश्यक और स्वाभाविक क्रिया है।

हाँ, हम एक वात मान सकते है कि साहित्य का वहुत कुछ अश, विज्ञान, दर्शन, आदि शास्त्रो ने ले लिया है। इससे साहित्य का शुद्ध क्षेत्र सीमित रह गया है, साहित्यकार यदि तथ्य कहता है, तो वह विज्ञान की वस्तु है ; शाश्वत् सत्य खोजता है तो यह दर्शन की वस्तु है ; जीवन का उपयोगी मार्ग वताता है, तो शास्त्र की वस्तु है। यदि यह नही करता, तो उसका उपयोग क्या ? उत्तर यही हो सकता है, मनोरजन। किन्ही कोनो से हमें यह चेतावनी भी मिलती है कि उपदेश देना, कवि का काम नही , तथ्य-निरूपण, कवि का काम नही , सत्य की खोज कवि का कर्तव्य नही तो कवि का करणीय है क्या ? सहज उत्तर-आता है, भावोद्‌वोधन और उक्ति चमत्कार द्वारा मनोरजन। इन चेतावनी देनेवाले और उसकी प्रतिध्वनि के रूप में सहज-प्राप्य उत्तर के शव्दो ने साहित्य का क्षेत्र सकुचित कर दिया है और साहित्यकार को भूल-भुलैयाँ में डाल दिया है। विभिन्न सीमाओ की ललकारो ने साहित्यकार को अन्य क्षेत्रो से खदेड़ कर, शुद्ध-साहित्य कहे जानेवाले क्षेत्र में डाल रखा है। वस इसी से साहित्य के सामने इतनी समस्यायें आ खडी हुई है।

पर यथार्थ में यह भ्रान्त धारणा है। विज्ञान, दर्शन और शास्त्रों के विस्तार ने साहित्य के सामने और भी विस्तृत, व्यापक और नवीन क्षेत्र खोल दिये है। साहित्य के लिए प्रतिवन्ध नही, किसी भी क्षेत्र में जा सकना

है ; पर उसकी रचना अन्ततोगत्वा साहित्य होनी चाहिए, दर्शन, विज्ञान या शास्त्र नही ।

जीवन की विविधता के समान साहित्य विराट् है। उसकी सूक्ष्मता के समान साहित्य जटिल है और उसकी सुघरता के समान सुन्दर है, पर उसकी कुरूपता के समान कुरूप नही। अत साहित्य के प्रत्येक रूप पर विचार करने के साथ सुरुचि का सम्वन्ध आवश्यक है। सुरुचि के विना साहित्य, साहित्य नही। साहित्य सदा ही सुन्दर और रमणीय है। अतः साहित्य का सुरुचि से अनिवार्य सम्वन्ध है। साहित्य का सुरुचि से सम्वन्ध होने के कारण ही, साहित्य सदा ही विकासशील है। यह हो सकता है किसी युग-विशेष का साहित्य, दूसरे युग के लिए उतना उपयोगी और रमणीय अथवा प्रगतिशील न रह जावे, पर अपने युग का साहित्य उस युग की सुरुचि को ही लेकर चलता है, उसका अन्तिम लक्ष्य सुरुचि-सम्पादन ही है। युग के अनुसार वर्णन की मर्यादा और मान्यताएँ वदला करती है, इसलिये कभी-कभी हम पिछले युगो के साहित्य में अश्लीलता भी पाते है। अश्लीलता जो एक निषिद्ध वर्णन को अपने भीतर लिए रहती है, वह तो निश्चय ही कुरुचिपूर्ण है और किसी भी युग में समादृत नही हो सकती, पर इसके अतिरिक्त शिष्टता और सभ्यता की परिधि में भी किसी युग में कुछ ऐसी बातें आ जाती है, जो दूसरे युग की मर्यादा के विपरीत हो सकती है। उदाहरण के लिए स्त्री के अनेक अगो का वर्णन, सस्कृत और हिन्दी के काव्यो में नखशिख के अन्तर्गत मिलता है, जो आजकल मर्यादा-पूर्ण नही कहा जा सकता। अत जनता की अभिरुचि के ऊपर युग के अनुकूल व्यवहृत साहित्यक सुरुचि, वडा ही महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है।

अव हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि हम जन-मन के भीतर साहित्यिक अभिरुचि कैसे जगावें ?

साहित्यिक अभिरुचि को जगाने का सबसे पहला उत्तरदायित्व कवि अथवा साहित्यकार पर है। साहित्यकार ऐसा साहित्य रचे जो जनता के भीतर की सुरुचि को उकसाकर, साहित्य के प्रति विद्यमान उदासीनता को दूर कर सके और साहित्य-सेवन की बान डाल सके। साहित्य के प्रति हमारी एक ललक उत्पन्न हो जावे। यह तभी सम्भव है जब—

(१) साहित्यकार की जीवन और जगत के प्रति एक सुन्दर, ऊँची और स्वस्थ धारणा वनी हो।

(२) उसमें जीवन और जगत का गहरा और यथातथ्य अनुभव हो।

(३) उसमें सत्य को सुन्दर रूप में देखने की प्रतिभा और उसके प्रकाशन की क्षमता हो।

(४) उसके भाव सुलझे हुए, पूर्ण और रमणीय हो और

(५) भाषा समर्थ, प्राजल, स्पष्ट, शुद्ध और प्रयोगवद्ध हो।

इन सब बातो को लेकर चलनेवाला साहित्यकार, सफल होगा और अपने साहित्य के प्रति लोगो को वरवस खीचकर न केवल साहित्यिक अभिरुचि को वढायेगा, वरन् वह संस्कृति, सभ्यता और मानवता का विकास करने में भी समर्थ हो सकेगा।

साहित्यिक अभिरुचि वढाने का दूसरा उत्तरदायित्व आलोचक पर है। साहित्यकार या कवि पूर्ण रीति से सतर्क और सचेत होते हुए भी, सदा ही वांछनीयता पर विचार नही कर सकता। अन समालोचक का कर्तव्य है कि साहित्यकार-द्वारा निर्मित साहित्य को निष्पक्ष रीति से कसौटी पर कसकर, खरे-खोटे का स्पष्ट विवेचन करे। जब किसी साहित्य में खरे समालोचक होते है, तब प्राय अच्छे लेखक पनपते है। समालोचक का कार्य वड़ा कठिन है। वह न्यायाधीश है। उसे यथार्थ समालोचना करनी है। कवि का वड़प्पन और प्रसिद्धि उस पर वेजा प्रभाव नही डाल सकती और किसी कवि की अप्रसिद्धि भी उसकी कवित्व-प्रतिभा को मन्द नही कर सकती। जो रचना जैसी है, उसको ठीक वैसी ही वताना आलोचक का कार्य है, मित्रता या गुटवन्दी का व्यवहार निभानेवाले समालोचक साहित्य पर कुठाराघात करते है।

कवि और समालोचक दोनो के ठीक कार्य करने पर भी, व्यापक प्रभाव तव तक नही पड़ पाता जव तक कि पत्रकार सहायक न हो। कविता या अन्य साहित्यिक रचना का पहला स्वागत पत्र ही करते है और पत्रकार ही पहला आलोचक भी है। साहित्य का सत्प्रचार और सत्समालोचना पत्रकार की सहायता से ही हो सकती है। पत्रकार को विवेकी, उत्साही, उदात्त, मर्मज्ञ और विद्याविद् होना चाहिए, तभी वह साहित्यकार की रचना भी परख सकता है और समालोचना का भी आदर कर सकता है। आजकल दुर्भाग्य से सुयोग्य पत्रकार इने-गिने है, इसी कारण साहित्यिक अभिरुचि इतने निम्नाश पर झुकी हुई है। पत्रकार की योग्यता, लेखक और समालोचक के पहचानने में है। यह सूझ उसका वड़ा आवश्यक गुण है।

पत्रकार के समान ही हमारे प्रकाशको को भी गुणी और गुणग्राहक होना चाहिए। सत्कवियो और साहित्य निर्माताओ को प्रोत्साहन देना इन्ही

का कार्य है। उन्हें याद रखना चाहिए कि प्रकाशक होना केवल जीविकोपार्जन का व्यापार ही नही, वरन् बडी ही उच्च और पवित्र देश, समाज और साहित्य-सेवा भी है, जिसे न करने पर इन सब की दुर्दशा के वही उत्तरदायी होगे। यह ऐसी सेवा है कि जिसमें परार्थ में स्वार्थ-सिद्धि भी निहित है।

सबसे अन्तिम, पर अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व हमारी सरकार का है। सरकार का कर्तव्य सत्साहित्य को प्रोत्साहन देना और उसके प्रचार, विस्तार और विकास का प्रबन्ध करना है। अब अपने स्वतन्त्र देश में सभी का पहला कर्तव्य यह है कि शासक सत्यनिष्ठ, सद्वृत्त, न्यायी और देश, समाज एव जनता के उन्नायक हो; तथा जनता और देश भी ऐसे शासको के अनुकूल, न्यायप्रिय, सस्कृत, समृद्ध और शिष्ट हो। शासक-मण्डल का जन-शिक्षा का कार्य अब आन्दोलन और गुटबन्दी से नही हो सकता। उसके लिए उसका सुगम मार्ग है, सत्साहित्य को प्रोत्साहित कर, उसका समुचित विकास एव प्रचार कर जनता में साहित्यिक अभिरुचि उत्पन्न करना। उत्तम साहित्य के सेवन से जनता में अपने आप विवेक, कर्तव्य-पालन और सत्य-न्याय की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। साहित्य से बढकर शीघ्र और स्थायी प्रचार करने वाली दूसरी शक्ति नही। अतः हमारी सरकार का बहुत बडा उत्तरदायित्व साहित्यिक अभिरुचि के बढाने में है। कवि, उनका प्रोत्साहन पाकर सच्चे, मनोरम और उपयोगी साहित्य का सृजन कर सकेंगे। समालोचक अपनी निष्पक्ष समालोचना तभी कर सकते है जब उसकी जनता और सरकार में कदर हो सके। और पत्रकार भी अपनी सद्वृत्ति का प्रयोग अधिकारियो के सकेत अथवा सद्वृत्ति के बिना नही कर सकते है। अत. इस साहित्यिक अभिरुचि के हेतु सरकार का भी बड़ा उत्तरदायित्व है, जिसे वह जितनी शीघ्र समझें, उतनी ही शीघ्र जन-कल्याण और उच्च साहित्य की सृष्टि प्रारम्भ होगी।

आज हम साहित्यिक अभिरुचि के विकास की बात इसलिए कर रहे है कि स्वतन्त्र होकर अब हमें अपने साहित्य को विश्व-साहित्य के समकक्ष रखना है, उसकी उच्चता और विशालता को निभाना है। यह संयोग की ही बात है कि हमारा प्राचीन साहित्य उच्च और महान् है, उसकी समता विश्व के इने गिने साहित्य ही कर सकते हैं, पर हम अपने पूर्वजो के बलबूते पर आज की लड़ाई तो नही जीत सकते। आज गौरव तो हमें अपने हाथो अर्जित करना है, अन्यथा हम महान् पूर्वजों की निकृष्ट सन्तान कहायेंगे।

अपनी सस्कृति और आदर्शो की महानता हम साहित्य द्वारा ही प्रकट

कर सकते है । हम प्राचीन काल में महान् थे इसे सिद्ध करने का हमें आज अवसर मिला है । इसे हम अपने कार्यो और विशेष रूप से साहित्य-द्वारा सिद्ध करेंगे । साहित्य का सम्पर्क अधिक दूर तक जाता है, कार्यो और व्यक्तित्व का सम्पर्क उतना स्वच्छन्द और व्यापक नही है । उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के समीपवर्ती देश भी हमारे साहित्य को पढ़ सकते है और उसी के द्वारा हमारी जाति, सस्कृति और देश के आदर्शो को जान सकते है और यदि वे यथार्थ में ऊँचे और सार्वभौम है, तो हमारे पथ के पथी भी हो सकते है ।

साहित्यकार को इतना बड़ा दायित्व सँभालना है अत आवश्यक है कि सभी उसकी सहायता करें । अकेले एक साहित्यकार ऊँचा हो सकता है, अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा से, पर यदि हमें युग के सभी कवियो और लेखको को उच्च और महान बनाना है, तो हमारे भीतर साहित्यिक अभिरुचि का पूरा स्पन्दन होना चाहिए । हमारे भीतर साहित्य के लिए ललक हो, उसकी बारीकी हम समझ सकें, उसके गुणो को ग्रहण कर सकें और उसके दोषों का परिहार कर सकें । जब ये गुण हमारे देश के जन-समूह में आ जायेंगे, तभी समझिये कि साहित्यिक अभिरुचि जाग्रत हुई है और हम विश्वासपूर्वक कह सकते है कि तभी हमारे साहित्यकारो की कृतियाँ विश्व भर में समादर और प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकेंगी ।

आज का कवि और कविता का भविष्य *

भविष्य के विषय में कुछ कहना भविष्यवक्ता, ऋषियो और दार्शनिको का काम है। किन्तु अपने समय की स्थिति और प्रगति को देख कर प्रत्येक विचारशील एव उदार चितन वाले मानव के हृदय में भविष्य-सवन्धी कुछ आशा दुराशाएँ जाग्रत होती रहती है। न यही वात सदा ही सच है कि सव को अपने वीते दिन वर्तमान से अधिक गौरवमय लगते है और न यह ही कि अतीत नितान्त ही अनुन्नत और वर्तमान समुन्नत जान पडता है। यह निकटतम अतीत के साथ तुलना की स्थिति के सवध में कहा जा रहा है। परन्तु कुछ अशो तक यह वात सत्य अवश्य है कि प्रस्तुत स्थिति मे अप्रस्तुत स्थिति अधिक गहरे रग की समझ पडती है और प्राय हमारी कल्पना अच्छाई और बुराई, जिसका भी अनुपात अधिक ध्यानाकर्षक हुआ, उसी के अतीत में कम और भविष्य में अधिक हो जाने की सभावना के चित्र अथवा आशकाएँ सामने रखती है। यदि वर्तमान समय में बुराई का पलडा भारी है, तो सोचने-विचारने वाले लोग कहेंगे कि हमारे वचपन में बुराई वहुत कम थी और भविष्य में तो बुराई का ही साम्राज्य होगा और यदि भलाई के लक्षण समाज में अधिक हुए तो आशावादी लोग उज्ज्वल भविष्य की कल्पना करेंगें। इस तथ्य का प्रमाण सामान्यतया लोगो से पूछ कर और बहुसख्यक मत के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है।

इन स्थितियो में हम इनके उत्तरदायी लोगो को समझ कर जब सामूहिक सामाजिक जागति और चेतना के साथ कार्यशील होते है, तब प्राय' हमारी स्थिति में सुधार हो जाता है, किन्तु जब ऐसी परिस्थिति आ जाती है कि हम सदा ही अपने से दूसरे को परिस्थिति का उत्तरदायी समझते है, तब बडा ही भयकर परिणाम होता है। एक वर्ग या समुदाय समझता

*** यह लेख भारतवर्ष की विशेष और विश्व की सामान्य परिस्थिति को ध्यान में रख कर लिखा गया है—लेखक।**

और प्रगट करता है कि दूसरा इस दूषित परिस्थिति का कारण रूप है और दूसरा पहले को ऐसा ही समझता है। ऐसी स्थिति कि दोषी अपने दोष को मान कर अपना सुधार कर ले और समस्त समाज सुधर जाय, आदर्श परिस्थिति है, किन्तु वह परिस्थिति भी अच्छी है कि जब हमारा समाज वास्तविक दोषी वर्ग को पहिचान लेता है और उसके बहिष्कृत या अपदस्थ करने का प्रयत्न करता है, परन्तु जब वह ऐसे प्रचार के बीच किंकर्तव्य-विमूढ रहता है जो दूसरे को दोषी सिद्ध करने में कुशल और सचेष्ट है तब कुछ भी करना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में समाज के किसी वर्ग को शांति नहीं मिल सकती और यह समय काव्य, कला और संस्कृति के अभ्युत्थान या विकास के लिए अतीव घातक स्थिति होती है। चाहे बहुत से लोग इनके विकास के लिए प्रयत्नशील क्यों न हो, किन्तु जनता के भीतर इन वस्तुओ के प्रति इतनी उपेक्षा का भाव रहता है कि इनका भविष्य अंधकारमय ही दीखता है।

आज कल कविता की यही स्थिति है।

हमारे सामने इस समय प्रश्न ये है कि कविता की हमारे जीवन में क्या आवश्यकता है, भविष्य में उसका क्या उपयोग होगा और उसके निर्माण में उसका क्या हाथ है? सामान्यत जब हम देखते है, तो उसका अर्थ यही निकलता है कि 'कोई नहीं', 'कुछनहीं', । जो कविता हमारे बीच है वह हमारे जीवन को कोई भी प्रेरणा और प्रगति नही दे रही। हमारा मनोरंजन भी अतीव तन्मयता के साथ नही कर रही। यदि तन्मयता के साथ मनोरंजन होता है, तब भी जीवन का नव निर्माण होता है, उसे नवीन रूप, शक्ति और दृष्टि प्राप्त होती है। इसमें संदेह नही कि आज कल कविता की पुस्तकें बराबर निकलती है। उनकी कुछ बिक्री भी होती है, पर जितनी गति, जितना स्पन्दन, जितना आघात और जितना आनंद काव्य के अन्य रूप कहानी, उपन्यास, नाटक आदि दे रहे है उतना कविता नही। इस तथ्य को यह कह कर भी टाला नही जा सकता कि आज कल कविता को समझने वाले ही नही है, लोग सरल और अनायास ग्राह्य वस्तुओं की ओर अधिक झुकते है और आयास साध्य वस्तुओं की ओर नही। क्योंकि यदि जनसाधारण नहीं तो अन्य कुछ विद्वान् और काव्य-प्रेमी सज्जन तो है ही जो सत्कविता की सराहना कर सकते है। अत कविता की हीनता का उत्तरदायित्व गुणग्राहकों पर ही पूर्णरूपेण नहीं है, गुण पर ही है। और यहीं हमारा ध्यान आज के कवि की प्रतिभा कार्य और परिस्थिति पर जाता है।

यह बात सत्य है कि परिस्थिति मनुष्य को बनाती-बिगाडती है किन्तु यह साधारण जन पर लागू होनेवाली उक्ति है। पुरानी उक्ति है कि कवि बनाये नही बनते, वे उत्पन्न होते हैं। उन्हें अच्छी-बुरी स्थितियां बना-बिगाड नही सकती; वरन्, उनमें स्वयं इतना तेज और प्रतिभा होती है कि वे परिस्थितियो को ही बदल सकते हैं। कालिदास, भवभूति, माघ, कबीर, तुलसी, सूर, बिहारी, भूषण, प्रसाद, प्रेमचन्द आदि इनके प्रमाण हैं। जो वास्तव में कवि-प्रतिभा लेकर जन्मा है और जो उस प्रतिभा को कुंठित नही करता है; वरन्, सदा ही उसे तीव्र और सतेज करते रहने का प्रयत्न करता है; जिसकी कल्पना में नवीन तथ्यो, रूपो और परिस्थितियो को हृदयगम करने की शक्ति है और जो गोस्वामी तुलसी के समकक्ष यह सिद्धान्त बना लेता है कि उसके कविकर्म में बाधा डालनेवाली जो भी वस्तु है वह त्याज्य है; वे ही 'कवि', सज्ञा से विभूषित किये जाने चाहिये। अन्य नही।*

अतः कवि को अपना जीवनपथ निश्चित करते समय अपने हृदय को टटोल कर, मनकी दुर्बलता को धोकर, दृढता के साथ संकल्प करना चाहिए। जो ऐसा न कर सके उसे कविता का ढोग न करना चाहिए। आजकल ऐसे ही दृढ सकल्प वाले, स्वच्छ कल्पना और अदम्य प्रतिभावाले कवियो की आवश्यकता है और उनके अभाव में ही कविता की हीनता देखने को मिल रही है।

आज हमारे कवियो में वह उच्चता, निर्मलता, अदम्यता और सकल्प देखने को नही मिल रहा है। इसीलिए कवि और कविता की अमरता में लोगो का विश्वास हट सा रहा है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि वर्षा के उर्वर और सरस अवसर पर अपने अकुर फोड़ देनेवाले सभी द्रुम नही होते, द्रुम वे हैं जो शरद, शिशिर, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म में भी लहलहाते रह

---

* तुलसी ने जैसा सिद्धान्त 'राम' के प्रति प्रेम के सबन्ध में बनाया था वह नीचे के पद में व्यक्त है :—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही॥
तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासो होय सनेह रामपद सोई हितू हमारो॥

विनय पत्रिका।

सकें। अमर कवि वे ही हैं जो किसी विशेष समय, आवेश में आकर एकाध मधुर रागिनी नही छेड जाते, वरन् अपने जीवन भर ऐसे मधुर गान गाया करते हैं जो युग को सजग और सचेत करते तथा युग-युग में प्राण फूंकते रहते है। ऐसे कवियो की हमें आज आवश्यकता है। परन्तु, आज के अधिकाश कवि ऐसे ही हैं जो अपनी किशोरावस्था के आवेश में कुछ उद्गार उँडेलकर कवि की सज्ञा पा लेते है और शाश्वत कवि-यश के लोलुप रहते हैं। उनका अपना कोई मौलिक जीवन-दर्शन नही, कोई शाश्वत् स्वानुभूति नही; व्यापक दृष्टि और निर्मल कल्पना नही। आशा, निराशा, वेदना, आनंद के अकुरो को हृदयक्षेत्र के भीतर साधना की खाद और स्वाध्याय एव सवेदना का अभिसिचन नही मिला। अतः उनका कवित्व-बीज युग-युग तक प्रतिष्ठित रहनेवाले अक्षयवट को कहाँ उत्पन्न कर सकता है जिसके आश्रय का आनद सभी पा सकें। यदि कवि को अपने और कविता—दोनो के भविष्य के सबध में कुछ भी मोह है, तो उसे इसी प्रकार की साधना करनी चाहिए।

किन्तु, इस सबध में नितान्त रूप से यह सोचना कि कविता कवि की ही वस्तु है अन्य लोगो से उसका कोई सबध नही—भी भ्रमपूर्ण है। कविता का उपयोग केवल कवि के लिए ही नही, वरन् सबके लिए है। ठीक वैसे ही जैसे अन्न उपजानेवाला कृषक है, पर उसको खानेवाले सभी है। अत जिस प्रकार प्रत्येक अन्नभोजी व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि अन्न की उपज में सहायता और उपजानेवाले को सुविधा दे उसी प्रकार मन और आत्मा को विकसित करनेवाले भोजन रूप में कविता को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक का कर्तव्य कवि की सहायता करना है।

कवि की सहायता उसकी यथार्थ प्रशसा एव प्रतिष्ठा तथा आर्थिक निश्चितता के द्वारा हो सकती है और कविता का भविष्य उच्च कोटि की साहित्यिक अभिरुचि के जाग्रत होने से ही उज्ज्वल हो सकता है। आज हमें मनोरजन के अन्य साधनो से कुछ मानसिक उल्लास प्राप्त हो जाता है जिससे हम कविता के प्रति उपेक्षा का भाव सा रखने लगे है। परन्तु, जो कार्य कविता कर सकती है, वह कला के अन्य रूप नही कर सकते। कविता केवल मनोरंजन के अर्थ नही, वरन् जीवन के सत्य को हमारे सस्कारो में उतारने के अर्थ होती है। जिन सत्य सिद्धान्तो को दार्शनिक एव समाजशास्त्री हमारे जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध करते है, कवि उन्हें अपनाने और ग्रहण करने का मधुर आग्रह करता है—ऐसा आग्रह जिसे हम ठुकरा नही सकते, ऐसा मधुर जिसे हम भुला नही सकते। अत. कवि की प्रत्येक युग में आवश्य-

कता है और विशेष रूप से उसका महत्व उन युगो में है जिसमें कि जीवन के सिद्धान्त बदलते हैं । जब हमारे पूर्ववर्ती नियमो और परम्पराओ के मूल्यो में परिवर्तन होता है, तब जनता को सँभालनेवाला कवि ही होता है । वही पुराने सस्कारो के ऊपर नवीन सस्कारो के रग चढा सकता है, वही अपनी कल्पना के सहारे आँखो के सामने ऐसे नूतन दृश्य प्रस्तुत कर सकता है जो पुरातन सभी दृश्यो से अधिक आकर्षक हो और वही जन-जन के हृदय में नवीन आदर्शो के प्रति ललक तथा नवीन कर्तव्यो के प्रति जागरूकता भर सकता है ।

इन सब की आज हमें कितनी आवश्यकता है । अत हमें यह न सोचना चाहिए कि आज का युग विज्ञान और व्यापार का है इसलिए कविता संसार से निष्कासित हो जावेगी । जब तक हमारी बौद्धिक एकागिता को सामजस्य प्रदान करने के लिए कविता-सेवन से प्राप्त विशाल-हृदयता, सवेदनशीलता, सामाजिकता एव मानवता न प्राप्त होगी, तब तक आज के अति व्यस्त व्यापार-विज्ञान-प्रधान युग में मानव को तन और मन दोनो ही की स्वस्थता एव शाति प्राप्त नही हो सकती इससे स्पष्टतया सिद्ध है कि कविता का ह्रास मानव जीवन के सहज आनद का ह्रास है, सामाजिक जीवन के समवेत उल्लास का विनाश है और मानवता की हत्या है, क्योकि जिस समवेदना एवं सवेदनशीलता की जागृति से मानवता स्वस्थ होकर विकसित होती है, वह कविता के द्वारा ही सभव है । कविता के भविष्य पर आशका मानव-जीवन के भविष्य पर आशका है । अत हमें उसके भविष्य को सुधारने के लिए वर्तमान के क्षेत्र को तैयार करना चाहिए । आज का कवि कविता के वर्तमान को महत्वपूर्ण सिद्ध नही कर पा रहा है, इसमें कवि की प्रतिभा-हीनता और हमारी उपेक्षा उत्तरदायी है । फिर भी तथ्य यह है कि आज उच्चकोटि का काव्य तो नही, वरन् उसके अनुकूल परिस्थिति और क्षेत्र तैयार हो रहे हैं जिनमें आगे कवित्व के बीज अकुरित हो सकेंगे ।

सामाजिक साम्य और आध्यात्मिक चेतना

आज कल ससार का प्रत्येक देश सामाजिक समानता की दुहाई दे रहा है। अपने प्रत्येक कार्य में बडे और छोटे देश इसी बात का दम भरते है, कि वे जनतन्त्रवाद, समाजवाद अथवा साम्यवाद के नियमो और सिद्धान्तो का पालन और प्रचार कर रहे है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति, एक मानव-समुदाय दूसरे मानव-समुदाय के प्रति जो व्यवहार करता है, चाहे उसमें उसका अपना व्यक्तिगत स्वार्थ ही क्यो न छिपा हो, परन्तु उसे विश्व-शान्ति एव विश्व समृद्धि के लिए हितकर सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। ऐसी दशा में स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि यदि सभी राष्ट्र, सभी मानव-सस्थाएँ, समस्त धर्म विश्व-कल्याण की भावना से युक्त है, तो फिर यह पारस्परिक सघर्ष एव विद्वेष भाव किस लिए है ? यदि सभी एक उद्देश्य, मानवता के हित को लेकर चलनेवाले है, तब फिर तीसरे युद्ध की आशंकाएँ आदि क्यो हमारे ऊपर मँडरा रही है और मानव-समाज का पारस्परिक प्रेम-व्यवहार क्यो घनिष्ठ नही हो रहा है ? यह इसलिए कि इन राजनीतिक उक्तियो और प्रचार के पीछे यथार्थ हार्दिक सद्भावना नही है, ये कथन वाचनिक है, अन्तःकरण से निकले नही है। और यह सब तब तक चलता रहेगा, जब तक हम अपने इस राजनीतिक दृष्टिकोण को आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि प्रदान न कर सकेंगे।

इस कार्य में भारत को आगे बढना पड़ेगा। राजतत्र और शासन-सम्बन्धी जितने भी बाह्य देशो के विधान है अथवा राजनीति के आदर्श है, उनका धर्म, संस्कृति या अध्यात्म से कोई सम्बन्ध नही समझा जाता। पर भारतीय दृष्टिकोण की विशेषता यही है कि उसमें जीवन का चरमलक्ष्य राजनीतिक गौरव न होकर आध्यात्मिक सन्तोष, विकास एवं सिद्धि रहा है। इसी भारतीय जीवन की विशेषता को पहचान कर ही महात्मा गांधी ने धर्म और राजनीति का समन्वय किया था। उनकी दृष्टि में राजनीति हमारे व्यापक धर्म का एक अंगमात्र है, उससे नितान्त स्वच्छन्द नहीं।

यहाँ पर धर्म अपने सकीर्ण एव साम्प्रदायिक अर्थ में नही वरन् मानव-धर्म के अर्थ में ही है। हमारे मानव-धर्मशास्त्र ही, स्मृतियाँ आदि ही हमारे राजनीतिक विधान रहे है। यह धर्म-सम्बन्धी व्यापक और उदार भावना ही इसका कारण है। भारतीय धर्म का कोई ऐसा निश्चित एव सकीर्ण रूप नही जो दूसरे धर्मो को नितान्त अपने से भिन्न समझ पडे। धर्म के दश लक्षण .—

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्मस्य लक्षणम् ॥

विश्वव्यापी मानवधर्म के लक्षण है। अत इस प्रकार का धर्म जो हमारी आध्यात्मिक सद्भावना को जाग्रत कर सके और प्रचार एव स्वार्थ से हटाकर निःस्वार्थ एव गुप्त रूप से मानव-सेवा करने की प्रेरणा दे सके वह यथार्थ मानव-धर्म है।

इस प्रकार का मानव-धर्म जब हमारे राजनीतिक वादो एव विधानो के मूल में रहेगा, तभी विश्व में सामाजिक साम्य हो सकता है। इसके विरोध में विचार करनेवाले एव केवल ऊपरी, स्थूल दृष्टि को लेकर चलनेवाले यह कह सकते है कि यथार्थ में आर्थिक समानता ही इसका मुख्य साधन है। किन्तु जब हम गहराई से विचार करते है, तब यह बात सत्य प्रतीत नही हो सकती। आर्थिक एव राजनीतिक स्वत्व-सम्बन्धी समानता से यदि सघर्ष समाप्त हो सकते तो विश्व कब का सुखी हो गया होता। जो आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्त एव सुखी हो वे भी सभी जीवन में शान्ति नही पाते। यहाँ पर कहने का तात्पर्य यह नही है कि आर्थिक दृष्टि का कोई मूल्य नही, उसका मुख्य स्थान है, पर अकेले उसी का नही। ये सुलझाव अधूरे एवं क्षण-स्थायी हैं जब तक हमारे भीतर आध्यात्मिक दृष्टि से साम्य-चेतना जाग्रत नही होती। एक व्यक्ति हमारे समान ही रुपया-पैसा पर अधिकार रखनेवाला है, पर इतने ही लक्षणो से हम उसे अपने समान नही समझने लगते। इतना होते हुए भी हम द्वेष या विकारवश उसे अपने से हीन या नीचा समझते है ऐसी दशा में न हममें शान्ति हो सकती है और न पारस्परिक सघर्ष का अन्त ही। अत इस आर्थिक एव राजनीतिक स्वत्व-समानता के साथ-साथ यह परमावश्यकीय है कि हममें आध्यात्मिक चेतना जाग्रत हो। जिससे हम मनुष्य मात्र को, वह चाहे किसी भी परिस्थिति या स्तर में क्यो न हो, समान समझें। हमारे भीतर गीता का वह पाडित्य-भाव जाग्रत हो जिसके लिए कहा गया है कि "शुनि चैव श्वपाके च पडिता. समदर्शिनः" जब तक आध्यात्मिक

चेतना के द्वारा हमारे भीतर साम्य-भावना का प्रकाश नहीं जगता तब तक अन्य कारणो से जगी हुई वाह्य झलको से कोई विशेष लाभ एवं स्थायी कल्याण नही हो सकता।

अत. आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ पर विश्व के विभिन्न कोनो में और हमारे देश में भी राजनीतिक नेता गण राजनीतिक विधानो-द्वारा मानव-समाज को समानता के अधिकार दे रहे है, वही हम भारतीय-चेतना के प्रतिनिधि भारतीय, यथार्थ आध्यात्मिक साम्य का मार्ग सुलभ एवं प्रशस्त करें जिससे कि मनुष्यता सच्चा एवं चिरस्थायी 'साम्य' प्राप्त कर सके। इसके लिए हमें प्रयत्न करके अब तक के आध्यात्मिक चेतना के इतिहास को मथकर उसके तत्व निकालने पड़ेगें। यदि हम अपनी आधुनिकता और शिक्षा का व्यर्थ का अहभाव-त्याग कर दें तो इस दिशा में भारतीय ऋषि-मुनि, सत-महात्मा वहुत कुछ हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकते है। जिन्होंने अपना सपूर्ण जीवन इसी आध्यात्मिक साम्य एवं मगलमयी ज्योति की खोज में विताया है। उनमें हमें वहुत वड़ी सहायता प्राप्त हो सकती है। अतः हमारे लिए इस वात की वड़ी आवश्यकता है कि अभी तक संचरित होने वाले और अपने विशिष्ट क्षेत्र को प्रकाशित करनेवाली आध्यात्मिक किरणो की विभिन्नता सूचक रंगीनी को हटाकर सव में व्याप्त, शुभ एव उज्ज्वल प्रकाश के विन्दु ग्रहण कर अपना मार्ग प्रकाशित करें और भारतीय अध्यात्म के इतिहास में उपनिषद, ब्राह्मण, गीता, वौद्धधर्म, सन्त मत, भक्ति मार्ग के आधुनिक परिस्थिति के अनुकूल, तत्वो को एकत्र कर एक भारतीय मानव-धर्म का निर्माण करें जो किसी भी, धर्म, देश और काल की परिधि के वन्धन में वंधा न हो।

मेरा इस सवन्ध में व्यक्तिगत विचार यह है कि इस गहरी साम्य-भावना को जाग्रत करने के लिए व्यक्तिगत आस्था एवं अनास्था के अतिरिक्त भी, विश्व या ब्रह्माड के नियन्ता पारब्रह्म या ईश्वर की सत्ता पर विश्वास आवश्यक है। इसी कारण भारतीय ऋषि-मुनि, विचारको एवं मनीषियो के अधिकाश ने सर्वभूतो में व्याप्त ईश्वर का दर्शन किया। यह उनकी व्यक्तिगत साधना और अनुभूति का परिणाम था, इस कारण चाहे हमें उनकी आवश्यकता आजकल न भी हो, किन्तु इसका सामाजिक साम्य-स्थापना में गहरा प्रभाव और महत्व है, इस दृष्टि से उसकी वड़ी आवश्यकता है। यदि हम मानव-मानव में यथार्थ साम्य-स्थापना के पक्षपाती है तो हमें प्रत्येक में व्याप्त उन ईश्वर के दर्शन करना चाहिए जो हमें प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व

यहाँ पर धर्म अपने सकीर्ण एव साम्प्रदायिक अर्थ में नही वरन् मानव-धर्म के अर्थ में ही है। हमारे मानव-धर्मशास्त्र ही, स्मृतियाँ आदि ही हमारे राजनीतिक विधान रहे है। यह धर्म-सम्बन्धी व्यापक और उदार भावना ही इसका कारण है। भारतीय धर्म का कोई ऐसा निश्चित एव सकीर्ण रूप नही जो दूसरे धर्मों को नितान्त अपने से भिन्न समझ पडे। धर्म के दस लक्षण :—

धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्मस्य लक्षणम् ॥

विश्वव्यापी मानवधर्म के लक्षण है। अत इस प्रकार का धर्म जो हमारी आध्यात्मिक सद्भावना को जाग्रत कर सके और प्रचार एव स्वार्थ से हटाकर निःस्वार्थ एव गुप्त रूप से मानव-सेवा करने की प्रेरणा दे सके वह यथार्थ मानव-धर्म है।

इस प्रकार का मानव-धर्म जब हमारे राजनीतिक वादो एव विधानो के मूल में रहेगा, तभी विश्व में सामाजिक साम्य हो सकता है। इसके विरोध में विचार करनेवाले एव केवल ऊपरी, स्थूल दृष्टि को लेकर चलनेवाले यह कह सकते है कि यथार्थ में आर्थिक समानता ही इसका मुख्य साधन है। किन्तु जब हम गहराई से विचार करते है, तब यह बात सत्य प्रतीत नही हो सकती। आर्थिक एव राजनीतिक स्वत्व-सम्बन्धी समानता से यदि सघर्ष समाप्त हो सकते तो विश्व कब का सुखी हो गया होता। जो आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्त एव सुखी हो वे भी सभी जीवन में शान्ति नही पाते। यहाँ पर कहने का तात्पर्य यह नही है कि आर्थिक दृष्टि का कोई मूल्य नही, उसका मुख्य स्थान है, पर अकेले उसी का नही। ये सुलझाव अधूरे एव क्षण-स्थायी है जब तक हमारे भीतर आध्यात्मिक दृष्टि से साम्य-चेतना जाग्रत नही होती। एक व्यक्ति हमारे समान ही रुपया-पैसा पर अधिकार रखनेवाला है, पर इतने ही लक्षणो से हम उसे अपने समान नही समझने लगते। इतना होते हुए भी हम द्वेष या विकारवश उसे अपने से हीन या नीचा समझते है ऐसी दशा में न हममें शान्ति हो सकती है और न पारस्परिक सघर्ष का अन्त ही। अत. इस आर्थिक एवं राजनीतिक स्वत्व-समानता के साथ-साथ यह परमावश्यकीय है कि हममें आध्यात्मिक चेतना जाग्रत हो। जिससे हम मनुष्य मात्र को, वह चाहे किसी भी परिस्थिति या स्तर में क्यो न हो, समान समझें। हमारे भीतर गीता का वह पाडित्य-भाव जाग्रत हो जिसके लिए कहा गया है कि "शुनि चैव श्वपाके च पडिता समदर्शिन" जब तक आध्यात्मिक

चेतना के द्वारा हमारे भीतर साम्य-भावना का प्रकाश नहीं जगता तब तक अन्य कारणो से जगी हुई बाह्य झलको से कोई विशेष लाभ एवं स्थायी कल्याण नही हो सकता।

अत आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ पर विश्व के विभिन्न कोनो में और हमारे देश में भी राजनीतिक नेता गण राजनीतिक विधानों-द्वारा मानव-समाज को समानता के अधिकार दे रहे है, वही हम भारतीय-चेतना के प्रतिनिधि भारतीय, यथार्थ आध्यात्मिक साम्य का मार्ग सुलभ एवं प्रशस्त करें जिससे कि मनुष्यता सच्चा एवं चिरस्थायी 'साम्य' प्राप्त कर सके। इसके लिए हमें प्रयत्न करके अब तक के आध्यात्मक चेतना के इतिहास को मंथकर उसके तत्व निकालने पड़ेगें। यदि हम अपनी आधुनिकता और शिक्षा का व्यर्थ का अहंभाव-त्याग कर दें तो इस दिशा में भारतीय ऋषि-मुनि, सत-महात्मा बहुत कुछ हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकने है। जिन्होंने अपना संपूर्ण जीवन इसी आध्यात्मिक साम्य एव मंगलमयी ज्योति की खोज में बिताया है। उनमें हमें बहुत बड़ी सहायता प्राप्त हो सकती है। अतः हमारे लिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि अभी तक संचरित होने वाले और अपने विशिष्ट क्षेत्र को प्रकाशित करनेवाली आध्यात्मिक किरणो की विभिन्नता सूचक रंगीनी को हटाकर सब में व्याप्त, शुभ एव उज्ज्वल प्रकाश के बिन्दु ग्रहण करें अपना मार्ग प्रकाशित करें और भारतीय अध्यात्म के इतिहास में उपनिषद, ब्राह्मण, गीता, बौद्धधर्म, सन्त मत, भक्ति मार्ग के आधुनिक परिस्थिति के अनुकूल, तत्वो को एकत्र कर एक भारतीय मानव-धर्म का निर्माण करें जो किसी भी, धर्म, देश और काल की परिधि के बन्धन में बँधा न हो।

मेरा इस संबन्ध में व्यक्तिगत विचार यह है कि इस गहरी साम्य-भावना को जाग्रत करने के लिए व्यक्तिगत आस्था एव अनास्था के अतिरिक्त भी, विश्व या ब्रह्माड के नियन्ता पारब्रह्म या ईश्वर की सत्ता पर विश्वास आवश्यक है। इसी कारण भारतीय ऋषि-मुनि, विचारको एवं मनीषियो के अधिकांश ने सर्वभूतो में व्याप्त ईश्वर का दर्शन किया। यह उनकी व्यक्तिगत साधना और अनुभूति का परिणाम था, इस कारण चाहे हमें उनकी आवश्यकता आजकल न भी हो, किन्तु इसका सामाजिक साम्य-स्थापना में गहरा प्रभाव और महत्व है, इस दृष्टि से उसकी बड़ी आवश्यकता है। यदि हम मानव-मानव में यथार्थ साम्य-स्थापना के पक्षपाती है तो हमें प्रत्येक में व्याप्त उस ईश्वर के दर्शन करना चाहिएं जो हमें प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व

के प्रति श्रद्धा और आदर का भाव जगाता है। और जिससे प्रेरित होकर ही कबीर कह उठे थे :—

"घट घट में वह साईं रमता, कटुक वचन मत बोल रे।"

अथवा जिसका दर्शन करके ही तुलसी की विनम्र-भावना फूट निकली थी।

"सीय राममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।"

अत हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि राजनीतिक बवडरो से दूर रह कर भी सन्तो एव भक्तो ने घट-घट-व्यापी के दर्शन कर मनुष्य-मनुष्य ही की नही, वरन् समस्त जीवो एव प्राणियो की समता का उद्घोष किया था। मुझे तो यही लगता है कि इनकी दृष्टि यथार्थ में आध्यात्मिक-साम्य की दृष्टि थी और उसमें बहुत कुछ सारतत्व हमें ऐसा मिलता है जो आधुनिक परिस्थिति में भी उपादेय है।

जीवन के सघर्षो के बीच ही फँसे रहकर हम उनका रहस्य भलीभाँति नही देख पाते। अतः इनसे तटस्थ रहकर भारतीय ऋषि-मुनियो में जीवन-यापन के जो नियम बनाये है उनमें आध्यात्मिकता का प्रमुख स्थान है। और उसी पक्ष को लेकर सन्त महात्माओ ने समयानुसार जिस पक्ष की कमी देखी है उसी की ओर लक्ष्य करके अपनी अमृतमयी वाणी में उपदेश दिया है। उन्होने जीवन की साम्य-भावना, आध्यात्मिक चेतना में ही देखी है। संसार के जितने भी पदार्थ है, जितने भी प्राणी है उन सब में ईश्वर की शक्ति व्याप्त है। अत जब हम सबमें उसकी प्रकाश किरण के दर्शन करें, तभी हम जगत के सत्य का दर्शन कर सकते है। मनुष्य मानो ईश्वर का साकार रूप है। उसके भीतर व्याप्त, सहज सात्विक तत्व का विकास करना लोक की यथार्थ शाति का बीज बोना है यह आत्म विस्तार है, यह आत्म विकास है और मनुष्यता की सबसे बड़ी सेवा है।

मेरा विश्वास है कि जब इस आध्यात्मिक-ज्योति का प्रकाश फैलेगा, तभी विश्व को यथार्थ शान्ति प्राप्त हो सकती है। राजनीतिक एव आर्थिक नियम, विधानादि अशत एव क्षणिक रूप में ही उस साम्य की नीव डाल सकते है, जिसके आज हम स्वप्न देख रहे है। विश्व-साम्य की कल्पना और स्थापना के प्रयास के पूर्व हमें अपने देश में भी इसी आध्यात्मिक चेतना-द्वारा यथार्थ सामाजिक साम्य की पृष्ठ-भूमि बनाना है। इसके लिए सुगम उपाय यही है कि विभिन्न मतो, धर्मो एवं सम्प्रदायोकी कल्याण करनेवाले आध्यात्मिक विकास एव लौकिक मगल करनेवाली व्यावहारिक बातो का सकलन

कर समस्त भारतीय जनता के लिए आवश्यक दैनिक कार्यक्रम सा प्रस्तुत करें जिससे कि आध्यात्मिक चेतना एवं यथार्थ साम्य का भाव विस्तार एवं विकास पा सकें। यह तभी सम्भव है जब देश के विभिन्न विद्वान्, विज्ञानी समाज सुधारक, धर्म-नेता, सस्कृति-मर्मज्ञ एकत्र होकर विचार विनिमय करें और आधुनिक युग के अनुकूल उपयोगी निष्कर्ष निकाल कर समस्त जनता में प्रचार करें, जिससे हम धर्म का यथार्थ रूप समझ कर, पारस्परिक भेद-भाव मिटावें और मानवता को आध्यात्मिक एवं चारित्रिक बल देकरयथार्थ शान्ति की नीव डाल सकें और मानव-मानव की समानता चिरस्थायी रूप से स्थापित कर सकें।